मतादर्श

सामाजिक विज्ञान, मानविकी एवं वाणिज्य की शोध पत्रिका

प्रधान संपादक

डा. बी. के. पाण्डेय

संपादक

शैलेन्द्र सेंगर

मेखला प्रकाशन

एफ-3/139, सेक्टर-16, रोहिणी

दिल्ली-110089

वर्ष : 2 **अंक :** 1 ❑ जनवरी-मार्च, 2010

मतादर्श

मतादर्श भारत में समाचार पत्रों के निबंधक (आर.एन.आई.) द्वारा अनुमोदित है।

सलाहकार संपादक
डा. गिरीश मिश्र

प्रधान संपादक
डा. बी. के. पाण्डेय

संपादक
शैलेन्द्र सेंगर

संपादन सहयोग
डॉ. आर. एन. कुंअर
डॉ. बामेश्वर सिंह
डॉ. विवेकानन्द शुक्ला
डॉ. रवीन्द्रनाथ राय
प्रो. राम अयोध्या सिंह
डॉ. नवल किशोर प्रसाद सिंह
डॉ. एम. के. पी. सिंह
राम लोचन सिंह

प्रबंध संपादक
डॉ. पी. आर. गौतम

समन्वय संपादक
डॉ. राघवेन्द्र किशोर

साज-सज्जा
पंकज झा

संपादकीय सम्पर्क:
351, पॉकेट-5, मयूर विहार, फेज-1,
दिल्ली-110091
फोन : 011-43015270, 64683387
e-mail : mekhalaprakashan@yahoo.com

मूल्य : 500.00

मुद्रक एवं प्रकाशक अलका सिंह द्वारा एफ-3/139, सेक्टर-16, रोहिणी दिल्ली-110089 से प्रकाशित तथा बी. के. ऑफसेट, नवीन शाहदरा दिल्ली-32 से मुद्रित

नोट: पत्रिका में प्रकाशित लेखकों के विचार अपने हैं। उसके लिए पत्रिका/संपादक/संपादक मंडल को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। पत्रिका से सम्बंधित किसी भी विवाद के निपटारे के लिए न्याय क्षेत्र दिल्ली होगा।

Editorial

मेकाले के समय से यशपाल आयोग तक भारत में शिक्षा के लिए अनगिनत आयोग, समितियां और योजनाएँ बनीं, उनकी अनुशंसाएँ आयीं, उन्हें आधे-अधूरा लागू भी किया गया लेकिन वह अभी तक पूर्णता नहीं प्राप्त कर सका। दिल्ली से दौलताबाद और दौलताबाद से दिल्ली की कहावत चरितार्थ होती रही। कभी अंग्रेजी की अनिवार्यता तो कभी अंग्रेजी हटाओ का जुनून। कभी शिक्षा का सरकारीकरण पर जोर तो कभी निजीकरण पर जोर। कभी परीक्षा के मूल्यांकन में प्राप्तांकों की महत्ता तो कभी ग्रेडिंग के लिए वकालत। गुलाम भारत में मिडिल की परीक्षा केन्द्रीयकृत होती थी और इसका आयोजन सरकार करती थी।

आजाद भारत में इसको खत्म कर दिया गया। जब देश आजाद हुआ तो सातवीं कक्षा तक अंग्रेजी की पढ़ाई खत्म कर दी गई। आठवीं से अंग्रेजी का ककहरा शुरू हुआ लेकिन इन्टरमीडियट में अंग्रेजी की पढ़ाई का पाठ्यक्रम वही रहा जो अंग्रेजों के जमाने से चला आ रहा था। बी.ए., एम.ए. के छात्रों की सभी विषयों की पढ़ाई अंग्रेजी माध्यम से होती थी और परीक्षा में उत्तर भी अंग्रेजी में ही देना होता था। धीरे-धीरे छात्र हिन्दी और अपने राज्य की भाषाओं में उत्तर लिखने लगे। पढ़ाई भी राज्य की भाषाओं में होने लगी। आज नर्सरी के बच्चे पहले अंग्रेजी सीखते हैं– बाद में अपनी मातृ भाषा।

नर्सरी से स्नातकोत्तर तक की शिक्षा 60 वर्षों में कितने खंडों में बंटी उसकी भी अपनी कहानी है। पहले वर्ग से सातवें वर्ग तक एक खंड, फिर 8 से 11 तक दूसरा खंड। उच्च शिक्षा के भी तीन खंड–इन्टरमीडियट (दो साल), स्नातक (दो साल), स्नातकोत्तर (दो साल)। इस क्रम को फिर खंडित किया गया। प्राथमिक से मिडिल एक खंड–फिर 8 से 10 तक का मैट्रिकुलेशन दूसरा खंड, इन्टरमीडियट दो साल और स्नातक तीन साल का तथा स्नातकोत्तर दो साल का। ये प्रयोग देश के अलग-अलग राज्यों में थोड़ा बहुत परिवर्तन के साथ लागू होता रहा। इस क्रम को फिर नया रूप यशपाल कमिटी में देने का प्रयास हुआ है।

10वीं की परीक्षा को समाप्त करने की अनुशंसा की गई है। बच्चों के पीठ पर किताबों के पहाड़ को खत्म करने की बात कही गई है। समाचार पत्रों में आधी-अधूरी रिपोर्ट छपने के साथ ही चिल्लपों शुरू हो गयी है। कपिल सिब्बल ने एक नजर में उसे लागू करने की घोषणा कर दी है। मानव संसाधन विभाग की 100 दिन की उपलब्धियों में इसे शुमार करने की बातें कही गई हैं। सबसे ज्यादा शोर 10वीं की परीक्षा को उठाने को लेकर है। सनद रहे यशपाल की अनुशंसाओं में केवल दसवीं की परीक्षा समाप्त करने की बातें नहीं है। उसमें विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, एनआईटीईसी तथा मेडिकल बार काउंसिल के बारे में भी बहुत महत्वपूर्ण सुझाव दिये गये हैं। देश की जनता को आज

जरूरत है कि वह पढ़ाई के क्षेत्र में प्राथमिक पाठशाला से लेकर विश्वविद्यालय तक दाखिले प्रतिभा के आधार पर हो–इसकी मांग उठावे और इसके लिए संघर्ष करे। आर्थिक साधनों के अभाव में किसी भी गुदड़ी के लाल को अवसर की समानता से वंचित नहीं रखा जाना चाहिए। सामाजिक न्याय के नाम पर सिर्फ जाति के आधार पर राजनीतिक रूप से उपयोगी आरक्षण से यह बात सुनिश्चित नहीं की जा सकती। जब तक देश में अमीरों और समर्थों के लिए बेहतर स्कूल और बचे-खुचे के लिए बदतर स्कूल बचे रहेंगे, तब तक शिक्षा में सुधार की बात करना बेमानी है।

1983 में मुझे रूस जाने का मौका मिला था। उस दौरान मैंने तत्कालीन सोवियत रूस और कई अन्य पश्चिमी और पूर्वी यूरोप के देशों की शिक्षा व्यवस्था के बारे में जानने का मौका मिला था। मैंने पाया था कि उन देशों में शिक्षा दो भागों में विभक्त थी। पहली कक्षा से 10वीं तक की कक्षा का एक खंड था और हायर एडुकेशन का दूसरा खंड। 10वीं पास कर ही लोग जीवन के विविध और विभिन्न क्षेत्रों में प्रशिक्षण प्राप्त कर काम में लग जाते हैं। जो लोग उच्चतर शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं चाहे वह इंजीनियरिंग का हो या मेडिकल का हो या समाज विज्ञान के विषयों का हो उसके पाठ्यक्रम एकीकृत–पांच साल या छः साल के होते हैं। वह अन्तिम डिग्री होती है। हमारे देश की तरह वहाँ इन्टरमीडियट या स्नातक या स्नातकोत्तर जैसा विभाजन नहीं है। उच्च शिक्षा की मात्र एक ही डिग्री होती है। इसके साथ और बाद शोध की व्यवस्था रहती है। मैंने यह भी देखा और जाना कि हमारे देश के इन्टरमीडियट पास छात्रों का ही वहाँ मेडिकल या इंजीनियरिंग में नामांकन होता है। इसलिए यशपाल की अनुशंसा में 10वीं की परीक्षा उठाने की बात पर शिक्षाविदों को गंभीरता से विचार करना चाहिए।

अपने देश में भी 12वीं पास छात्र ही मेडिकल या इंजीनियरिंग पढ़ते हैं। इसलिए यूरोपीय देशों की तरह यहाँ की शिक्षा को दो भागों में बांट कर एकीकृत करने की जरूरत है।

– बी. के. पाण्डेय

इस अंक में

राजनीति विज्ञान

औपनिवेशिक शासन के अधीन: भारतीय अर्थव्यवस्था–*नीतू शर्मा* 7

इतिहास

बिहार की महिलाओं का भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में योगदान–*विक्रम कुमार सिंह* 12
स्वतंत्रता आन्दोलन एवं एम० एन० राय–*सरोज कुमार* 15
महात्मा गांधी का खादी प्रेम और आर्थिक स्वावलंबन: एक अध्ययन–*राकेश रंजन* 26
आर्य समाज के दृष्टि में दलित समस्या व समाधान के प्रयास–*अमित कुमार जयसवाल* 30
सिन्धु सभ्यता पर एक दृष्टि–*अवध पटेल* 36
अलाउद्दीन खिलजी की बाजार नियंत्रण व्यवस्था का ऐतिहासिक विश्लेषण–*प्रवीण चन्द्र* 41
कांग्रेस-समाजवादी पार्टी: स्थापना के राजनीतिक-ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य–*कुमारी ज्योति* 46

संस्कृत

मुद्राराक्षस मे वर्णित राजनीति एवं कूटनीति–*नमिता कुमारी* 51
हमारे देश पर पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव–*मणीष कुमार भारती* 56
भारवि की सूक्तियों में नीति लालित्य–*बीणा कुमारी* 59

हिन्दी

द्विवेदी युग की पत्रकारिता: एक विवेचन–*पूजा कुमारी* 66
लोक-नाटकों की परम्परा और बिहार–*डॉ० अजित नारायण* 69

गृह विज्ञान

महिलाओं के स्वास्थ्य एवं उनके आर्थिक स्थिति का अध्ययन–*श्वेता कांता* 73

HISTORY

Bhoodan Movement and its Implementations in Bihar—*Dr. Saroj Kumar Singh* 80
Religion at Akbar's Court—*Chandrarekha Kumari* 86

GEOGRAPHY

The Structure and Level of Pollution in Chapra and Siwan Towns, Bihar: A Study in Environmental Geography—*Ranjay Kumar Prasad* 89
The Commercial Structure of Siwan Town, Bihar: A Study in Urban Geography—*Arya Kumar Choursiya* 92

ECONOMICS

Regional Rural Banks in Bihar Economy: A Perusal of their Performances—*Kumar Gaurav* 95

COMMERCE

The Role of Social Banking in the Operation and Success of Poverty Alleviation Programmes in India—*Arvind Anand* 100

Sustainable Development and Globalization—*Dr. Harendra Prasad Singh* 104

Lead Bank Scheme in Bihar An Analysis—*Prof. Arup Kumar Srivastava* 107

ANTHROPOLOGY

Aspects of Tribal Culture and its Influence on Personality and Development of Women—*Soniya Rani* 117

Occult Traditions of Hindu Religious Beliefs—*Prafulla Malik* 122

ENGLISH

Sri Aurobindo: An Introduction—*Rakesh Kumar Singh* 126

PSYCHOLOGY

Sexual and Sex Educational Attitude of Urban Students in Relation to their Modernization—*Ramnarayan Pandey* 131

Some Familial Components and Behaviour Problem in Primary School Children—*Dr. Pradeep Kumar Sinha* 135

Ethics in Psychological Research—*Dr. Kamta Prasad Yadav* 139

औपनिवेशिक शासन के अधीनः भारतीय अर्थव्यवस्था

नीतू शर्मा

एसिस्टेन्ट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, माता सुन्दरी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्राचीन काल से ही भारतीय अर्थव्यवस्था काफी सुदृढ़ थी। विख्यात आर्थिक इतिहासकार मेडीसन के अनुसार 1AD से 1000 AD तक भारतीय अर्थव्यवस्था विश्व की सर्वाधिक शक्तिशाली अर्थव्यवस्था थी। कालांतर में अंग्रेजों की उपेक्षापूर्ण नीति के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था चरमरा गई।[1] 18वीं शताब्दी में मुगलों के पराभव के साथ-साथ भारतीय आर्थिक व्यवस्था का भी विघटन हो गया। देश के अधीन बहुत से राज्यों के आपसी महत्वाकांक्षाओं के द्वारा आर्थिक क्रियाकलाप नगण्य हो गई, लूट-खसोट वाले विभिन्न तत्व उभर आए। आर्थिक स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा, मार्ग आरक्षित हो गए, चुंगी और कर की अत्यधिक मात्रा के कारण व्यापार और वाणिज्य का पतन प्रारंभ हुआ।[2]

उपनिवेशवाद दो देशों के बीच राजनीतिक एवं सामाजिक संबंधों की ऐसी व्यवस्था है जिसमें एक देश शासक और दूसरा देश शासित होता है। शासक देश का अपने देश पर राजनीतिक प्रभुत्व होता ही है। साथ ही यह उसकी अर्थव्यवस्था के संचालन के विषय में निर्णय लेता है।[3] ऐसी स्थिति में अधीन देश के लोग अपने संसाधनों के इस्तेमाल कृषि और उद्योगों के विकास तथा दूसरे बहुत सारे आर्थिक मामलों में कोई निर्णय नहीं ले पाते हैं। इससे अधीन देश की अर्थव्यवस्था पिछड़ जाती है। उपनिवेशिक व्यवस्था में शासित देश की अर्थव्यवस्था को शासक देश की अर्थव्यवस्था के साथ जुड़ा देखा गया है। दोनों देश की अर्थव्यवस्था एक-दूसरे के पूरक हो जाती है। ब्रिटिश उपनिवेशवाद के भारतीय अर्थव्यवस्था पर प्रभाव को निर्धारित करने के लिए मुगल शासक के अंत में (ब्रिटिश शासन की शुरूआत के समय) भारतीय अर्थव्यवस्था की स्वरूप क्या थी, यह विचार के योग्य प्रश्न है।

प्रो॰ रे॰ चौधरी, ने 18 वीं शताब्दी में भारतीय अर्थव्यवस्था के पिछड़ने का कारण किसी वैज्ञानिक तथा भौगोलिक क्रांति के अभाव को बतलाया है और यह भी कहा है[4] कि भारतीय समाज अवसर के प्रति सकारात्मक प्रक्रिया नहीं दिखाई। भारतीय अर्थव्यवस्था का सबसे प्रमुख पक्ष ग्रामों में आत्मनिर्भरता तथा आत्मशासी समुदाय रहते थे।[5] भारतीय ग्राम अपने आप में एक लघु संसार के रूप में काम करते थे जिनका बड़ा संसार के साथ न के बराबर संबंध था। ग्राम अर्थव्यवस्था आत्म निर्वाही होती थी। इनकी और प्रमुख विशेषता हस्तशिल्प और कृषि का आपसी समन्वय होता था। ग्राम की भूमि कृषक समाज की होती थी और प्रत्येक कृषक कुटुंब के पास कुछ न कुछ भूमि होती थी। जनसंख्या कम और भूमि अधिक थी। अतएव भूमि का क्रय-विक्रय अधिक नहीं होता था। कार्ल मार्क्स ने इस सामाजिक स्वामित्व को एक प्रकार की 'भारतीयता साम्यवाद' माना है। 1853 में मार्क्स द्वारा भारत के संदर्भ में लिखे गये लेख में की दोहरी भूमिका का विश्लेषण किया। एक विनाशकारी और एक पुनर्जन्यात्मक इंग्लैंड की पुनर्जन्यात्मक भूमिका इस बात पर थी कि वह भारतीय समाज

के कुछ प्राचीन आधार को समाप्त कर रहा था। इस अर्थ में उसने अंग्रेजी शासन की आधुनिक विकास की पुर्व्देपा बताया है। इंग्लैंड की स्वार्थी नीति के कारण भारत ने स्वतंत्र औद्योगिक बुर्जवा समाज तथा अच्छी पूंजीवादी व्यवस्था नहीं पनप सकी।

अंग्रेजों के आगमन के पूर्व या पश्चात् कृषि यहाँ के लोगों का मुख्य व्यवसाय था।[6] फ्रेंसिस बकानन की डायरी से यह स्पष्ट है कि उस समय कृषि पर्याप्त रूप से विकसित थी और उद्यमी किसानों की परिश्रम और भारतीय किसानों की सिंचाई के बारे में सूझबूझ का ही नतीजा था कि भारतीय गांवों का जीवन यूरोपीय गांवों की तरह समृद्ध था।[7] अंग्रेजी शासन काल में कृषि की प्रगति के मार्ग अवरूद्ध हो गया, बावजूद इसके 1889 में डॉ. वोइलकर, जो भारत में कृषि विकास के बारे में सुझाव देने आये थे, लिखते हैं कि 'भारतीय कृषि पुराने ढंग की और पिछड़ी है', पूरी तरह गलत है। भारतीय किसान औसत अंग्रेज किसान की तरह अच्छे हैं और कुछ मायने में तो उनसे श्रेष्ठ हैं। मैं जो भी कहना चाहता हूँ, उसपर अंग्रेजों को आश्चर्य नहीं होना चाहिए क्योंकि भारत के निवासी इंग्लैंड में हमने जब से गेहूँ की खेती शुरू की उससे कई शताब्दी पहले से खेती कर रहे हैं।[8] इस लिए उनकी खेती का ढंग में सुधार की ज्यादा गुंजाईश नहीं है। पानी और खाद जैसी सीमित सुविधाओं के कारण वे बड़ी फसलों को उगा नहीं पाते लेकिन जितने अच्छे ढंग से यहाँ का किसान खेती को खरपतवार वर्ग साफ रखता है, सिंचाई के जो भी तरीके इस्तेमाल करता है, मिट्टी फसल की बुआई और कटाई के बारे में जानकारी रखता है, वह दूसरी जगह देखने को नहीं मिलता। यह सब कुछ अच्छे किसानों के बारे में सच न होकर साधारण किसानों के बारे में सत्य है। यह आश्चर्य जनक है कि इन्हें फसलों की हेरफेर मिश्रित फसलों की प्रणाली और जमीन परती छोड़ने के बारे कितनी अधिक मालूम है। इतनी अधिक सावधानी के साथ खेती की तस्वीर निश्चय ही मैंने और कहीं नहीं देखी है।

18वीं शताब्दी में भारत की अर्थव्यवस्था यद्यपि कृषि प्रधान था तथापि देश में औद्योगिक विकास संतोषजनक रहा था।[9] अंग्रेज के भारत में आने के पूर्व भारत में उद्योग का स्तर यूरोप में औद्योगिक विकास के स्तर से उच्च था। ऐसे समय में जबकि आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था के जन्म स्थान पश्चिमी यूरोप में असभ्य जनजातीय (Tribes) बसी हुई थी। भारत अपने शासकों की समृद्धि और अपने कारीगरों की कलात्मक कारीगरी के लिए मशहूर था और काफी समय बाद जब पश्चिमी के साहसी सौदागर पहली बार भारत पहुंचे, इस देश का औधोगिक विकास किसी भी कीमत पर अपेक्षाकृत विकसित यूरोपीय देश से कम नहीं था। इसकी पुष्टि[10] लेकि के लेखनो से स्पष्ट होता है। वे स्पष्ट लिखते हैं कि 17वीं शताब्दी के अंत में बड़ी सस्ती और बढ़िया भारतीय केलिको मलमल और छींट का इंग्लैंड में आयता हुआ और वहाँ के लोगों को इतनी पसंद आई की ऊनी और रेशमी कपड़े के उत्पादक गम्भीर रूप से डर गया। अत: 1700 ई. और 1712 ई. में पार्लियामेंट में कुछ खास कपड़ों को छोड़कर शेष सभी प्रकार के कपड़ों के इस्तेमाल पर पूरी तरह रोक लगा दी।[11] रमेश चन्द्र के अनुसार सभी प्रतिबंध के बावजूद उन्नीसवीं शताब्दी के पहले चार वर्षों में कलकत्ता से 6 से 15 हजार गाँठ कपड़े का प्रतिवर्ष निर्यात हुआ।

अठारहवीं शताब्दी में भारत में दो तरह के उद्योग थे। (1) गांव में स्थापित कुटीर उद्योग (12) शहरों में स्थापित विस्तृत बाजारों के लिए उत्पादन करने वाले उद्योग।[12] ग्रामीण उद्योग बहुत छोटे पैमाने पर संगठित थे और महज स्थानीय मांग को पूरा करने में समर्थ थे। ग्रामीण उद्योग की तुलना में शहरों में स्थापित उद्योग का आधार ज्यादा व्यावसायिक था लेकिन उत्पादों का दृष्टिकोण आधुनिक उद्यमी के दृष्टिकोण से पूरी तरह भिन्न था।[13] पानी की जहाज बनाने की कला में भारत यूरोप से पीछे नहीं था। दिग्वी ने इस संबंध में लिखा था कि सौ साल पहले पानी में जहाज तैयार करने का काम भारत में इतनी विकसित अवस्था में थी। ऐसे जहाज बनाये जाते थे जो टेम्स नदी में ब्रिटेन द्वारा बनाये गए जहाजों के साथ-साथ और ब्रिटिश जंगी जहाजों के संरक्षण में चलते थे। भारत के गवर्नर जनरल लार्ड वेलेजली ने भी 1800 ई. में एक रिपोर्ट में इस संबंध में लिखा था कि कलकत्ता बंदरगाह में भारत के बने 10000 टन क्षमता वाले जहाज इंग्लैंड को माल के यातायात के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। कलकत्ता के बंदरगाह में जहाज की क्षमता और बंगाल में जहाज निर्माण कला में हासिल कुशलता के आधार पर यह निश्चित है कि बंगाल के अंग्रेज व्यापारी जो माल लन्दन के बंदरगाह ले जाना चाहेंगे, उसके लिए जहाज की पूर्ति बराबर बनी रहेगी। अंग्रेज के भारत आने से पहले इसका राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बहुत समृद्ध था। लेकिन इस व्यापार में गाँव की भागीदारी बहुत कम थी।

अधिकांश स्वदेशी व्यापार शहरों के बीच में ही था। यह सर्वविदित है कि शहरों में उत्पादित औद्योगिक वस्तुओं की मांग गांव में कम थी।[14] यह उल्लेखनीय है कि भारत का विश्व के अनेक देशों के साथ व्यापार दो हजार ईसापूर्व से भी प्राचीन था। इजीप्ट में अभिजात वर्ग भारतीय मलमल से लपेट कर रखा गया है जो इस बात का प्रतीक है कि भारत का व्यापार इजीप्ट के साथ होता था। यूनान में मलमल 'गंगेतिका' नाम से बिकती थी। इसके अलावा भारत से काली मिर्च, नील और अफीम की भी दूसरे देशों में भारी मांग थी। मध्य पूर्व के देशों में रेशमी कपड़ो परं जरी के काम, कीमती पत्थरों और धातुओं के वस्तुओं की भारी मांग थी, क्योंकि वे देश उस समय की परिस्थितियों के दृष्टि से पिछड़े थे। इसलिए भारत उनसे बदले में आयात नहीं कर सकता था। औपनिवेशिक शासन के 190 वर्षों में अंग्रेजों ने भारत का जिस तरह से शोषण किया जिसके फलस्वरूप अर्थव्यवस्था टूट गई और देश आर्थिक दृष्टि से पिछड़ गया। जवाहर लाल नेहरू और रजनीपाम दत्त के अनुसार पलासी के युद्ध के बाद जब अंग्रेजों ने सत्ता संभाली तो उस देश में पूंजीवादी अर्थप्रणाली के विकास के लक्षण मौजूद थे लेकिन जब इंग्लैंड की व्यापारिक पूंजी देश की अर्थ व्यवस्था पर चोट पहुंचाई तो पूंजीवादी व्यवस्था के विकास की संभावनायें समाप्त हो गई।

ईस्ट इंडिया कंपनी[15] के शासनकाल में औपनिवेशिक शोषक का स्वरूप काफी स्पष्ट हो गया। व्यापार के नाम पर अंग्रेज प्रत्येक प्रकार से लूटमार करते थे। अंग्रेज गवर्नर के नाम बंगाल के नवाब ने अपने मेमोरेंडम में लिखा था कि वे (कंपनी के एजेंट) किसानों, व्यापारियों आदि को जर्बदस्ती एक चौथाई कीमत देकर उनके माल और उत्पादन हड़प रहे हैं और किसानों आदि को मारपीट कर वे अपनी एक रुपये की चीज पांच रुपये में बेच रहे हैं। इस तरह के प्रत्यक्ष लूटमार का वर्णन विलियम बोल्ट्स ने 1772 में प्रकाशित कंसिडरेशन ओर इंडियन अफेयर में प्रकाशित किया है।

शोषण का दूसरा रूप मालगुजारी या कंपनी द्वारा वसूली की जाने वो मालगुजारी किसानों को लूटने का सीधा तरीका था। इस तरह एकत्रित राजस्व भारत के प्रशासन पर व्यय न करके इंग्लैंड

भेजा जाता था। बंगाल से ईस्ट इण्डिया कंपनी अपने शासन के पहले छः वर्षों में राजस्व आय के रूप में 40 लाख 31 हजार पौंड इंग्लैंड भेजे थे।

ईस्ट इंडिया के शासन काल में भारत के अंग्रेज द्वारा शोषण से देश कितना तबाह हुआ इसका उदाहरण ब्रिटिश पार्लियामेंट के सदस्य विलियम फुल्लटर्न ने किया था।[16] ''बीते दिनों में बंगाल के गाँव विभिन्न जातियों के लोगों से भरे पड़े थे और पूर्व में वाणिज्य धन सम्पदा तथा उद्योगों के भंडार थे'' लेकिन हमारी कुशासन ने 20 वर्षों में इन गांव के बहुत सारे हिस्से को बंजर बना दिया। खेतों में अब खेती नहीं की जाती। काफी इलाकों में झाड़ियां उगी पड़ी थी। किसान लुट चुके थे। औद्योगिक निर्माताओं का दमन किया जा चुका था। बार-बार अकाल पड़े और जनसंख्या कम हुई। ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा उपरोक्त ढंग से एकत्रित की गई पूंजी से औद्योगिकरण करने में सहायता मिली। इंग्लैंड के उद्योगपतियों ने यह महसूस किया कि ईस्ट इंडिया कंपनी के लालची मनोवृत्ति से आगे आने वाले वर्षों में संभव शोषण का आधार नष्ट कर रही थी। उनके प्रभाव के कारण सरकार 1813 ई. में भारत के व्यापार से ईस्ट इंडिया कंपनी से एकधिकार खत्म कर दिया। इसके उपरांत में औद्योगिक पूंजीवादी शोषण शुरू हो गया।[17]

औद्योगिक पूंजीवादी शोषण काल में भारत से सम्पत्ति के निकास मुख्य व्यापार था। इंग्लैंड अपने कारखानों में बनी वस्तुओं को भारतीय बाजार में बेचना चाहता था लेकिन यह भारतीय वस्तु के तुलना में घटिया होने के कारण संभव नहीं था। फलतः भारतीय उद्योगों को जानबूझ कर नष्ट किया गया। इस काल में मुक्त व्यापार की एकतरफा नीति अपनाई गई जिसके अंतर्गत भारतीय सूती वस्त्रों के आयात पर भारी कर लगाया गया जबकि भारत द्वारा इंग्लैंड से आयात पर किसी तरह का शुल्क नहीं लगाया गया। भारत में इंग्लैंड के पूंजीपति औद्योगिकरण के विरोधी थे। इसलिए उन्होंने वही उद्योग को स्थापित की जो भौगोलिक दृष्टि से अनिवार्य था।

इसी दृष्टि से बंगाल में जूट-उद्योग स्थापित की गई। जूट उद्योग से अंग्रेज उद्योगपति काफी लाभ कमाए। बागान उद्योग में चाय, कहवा नील उद्योग का विकास हुआ। बागानों में कार्य करने वाले मजदूरों की हालत गुलामों जैसी थी उन्हें काम छोड़कर वापस जाने की स्वत्रता नहीं थी।[18] ब्रिटिश उपनिवेशवासियों ने राजस्व और लोक व्यय नीति के द्वारा बड़े पैमाने पर भारत का शोषण किया। 19वीं सदी में सेना पर भारी खर्च था जिसका भार भारतीयों पर था। 19वीं सदी में भारत में ब्रिटिश औद्योगिक पूंजी का शोषण बड़े पैमाने पर चल रहा था। इससे देश में ब्रिटिश महाजनी पूंजी का प्रवेश हुआ, दरअसल यह औद्योगिक पूंजी द्वारा शोषण में मदद पहुंचाने के लिए जरूरी था।

संदर्भ-सूची

1. Angus Maddison Contours of the World.
2. बी.एल. ग्रोवर और यशपाल-1996, पृ. 630 आधुनिक भारत का इतिहास
3. मिश्रा और पूरी-2005 भारतीय अर्थव्यवस्था पृ. 44
4. धर्म कुमार कैम्ब्रिज इकनामिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, खण्ड-II पृ. 33
5. अंग्रेजी राज्य का ईस्ट इण्डिया कंपनी के अधीन (1751-1857) भारतीय अर्थव्यवस्था पर प्रभाव
6. कार्ल मार्क्स-1853 में कार्ल मार्क्स भार पर इंग्लैंड की दोहरी भूमिका पर विचार

7. फ्रेंसिस बकानन-डायरी
8. Voeleker Report on the Improvement of Indian Agriculture (1889) Quoted in V.V. Bhatt spects of economic change and Policy in India (1800-1900), पृ. 13
9. Indian Industrial Commission (1916-18) पृ. 6
10. Lecky History of England in the Epghteenth Century Quoted in V.V. Bhatt op. Cit. पृ. 14
11. रमेश चन्द्र लेख
12. मिश्रा और पूरी-2005 भारतीय अर्थव्यवस्था, पृ. 46
13. Willam Digby, " Prosperous" British India A Revelatton From official Recods (Kondan-190)
14. मिश्रा एवं पूरी-2005 भारतीय अर्थव्यवस्था, पृ. 46-47
15. Quoted in R.Palme Dutt, India Today (Calcutta, 1779), पृ. 101
16. Willam Fullarton Quoted in R.Palme Dutt, op पृ. 108
17. Advanced History of India, पृ. 881
18. Tripatni, Amtesh, trade and Finance in Bengal Presidency 1793-1833, पृ. 24

बिहार की महिलाओं का भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में योगदान

विक्रम कुमार सिंह

शोध छात्र, जयप्रकाश नारायण विश्वविद्यालय, छपरा

बिहार न केवल रणबांकुरों की जन्मस्थली है, बल्कि यहाँ की प्रसवनी भूमि ने कई विरांगनाओं को भी जन्म दिया है। बिहार में ऐसे अनगिनत महिलाओं के नाम हैं जिन्होंने स्वतंत्रता आन्दोलन में सक्रिय भागीदारी लिया है तथा कईयों को प्रेरित भी किया है और कई तो शहीद भी हो गई।

महात्मा गांधी के बिहार आगमन तथा उनके द्वारा शुरू किए गए चम्पारण आन्दोलन से बिहार में स्वतंत्रता संग्राम में सरगर्मी आयी और महिलाओं ने भी अपनी कमान संभाल ली। सरला देवी, प्रभावती देवी, सुनीति देवी, राधिका देवी आदि वीरांगना महिलाओं की प्रेरणा से बिहार की महिला समाज में स्वतंत्रता की लहर दौड़ गयी।

सरला देवी ने 1921 में बिहार के विद्यार्थियों को सरकारी स्कूल, कॉलेज का बहिष्कार करने के लिए आह्वान किया। 'प्रिन्स ऑफ वेल्स' के भारत आगमन समारोह के बहिष्कार के लिए सावित्री देवी ने लोगों को प्रेरित किया। गांधी जी के सत्याग्रह आन्दोलन में सक्रिय रूप से भाग लेने वाली महिलाओं में श्रीमती सी.पी. दास और श्रीमती उर्मिला देवी का नाम प्रमुख है। महात्मा गांधी के साथ यात्रा करने वाली महिलाओं में प्रभावती देवी का नाम प्रमुख है।

महात्मा गांधी ने जब 1930 में 'नमक आन्दोलन' शुरू किया तो बिहार की महिलाओं ने नमक कानून भंग करने में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया, महिलाओं में कई जगह आम सभाएं की। संथाल परगना की शैलबाला राय के ओजस्वी भाषणों से प्रभावित होकर सैकड़ों महिला नमक कानून तोड़ने के लिए आगे बढ़ी। शाहाबाद जिले की महिलाओं ने सासाराम थाने के समक्ष नमक कानून भंग किया। इसी दौरान हजारीबाग की सरस्वती देवी और साधना देवी को गिरफ्तार किया गया और छः माह की कारावास की सजा सुनायी गयी। गिरिडीह की मीरा देवी को भी गिरफ्तार किया गया। पटना में इस आंदोलन की बागडोर श्रीमती हसन इमाम के हाथों में थी। इसके अलावा विन्ध्यवासिनी देवी ने भी इस आंदोलन में प्रमुख भूमिका अदा की।

आंदोलन की तीव्रता और महिलाओं की भारी संख्या में भागीदारी को देखते हुए ब्रिटिश सरकार को महिला पुलिस बल बहाल करनी पड़ी। श्रीमती हसन इमाम उनकी सुपुत्री श्रीमती शमी, श्रीमती सी. सी. दास एवं उनकी बेटी कुमारी गौरीदास ब्रिटिश सरकार के लिए सिरदर्द बन गयी थी। मुंगेर की एक मुस्लिम महिला शाह मुहम्मद जुबैर पर्दे से बाहर निकल कर आन्दोलन में कूद पड़ी। बहुरिया रामस्वरूप देवी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन में भाग लेने के लिए लोगों को प्रेरित किया। अंग्रेजी सरकार विचलित होकर बहुरिया देवी को गिरफ्तार कर भागलपुर जेल भेज दिया। संथाल परगना की

साधना देवी के नेतृत्व में महिला सत्याग्रहियों ने अंग्रेजी सरकार को परेशान कर दिया। गया की चन्द्रावती देवी द्वारा चौकीदारी टैक्स का विरोध करने पर उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया।

सरदार भगत सिंह, राजगुरु और सुखदेव को फाँसी की सजा के विरोध में 1931 में 30 मार्च को श्रीमती कुसुम कुमारी देवी की अध्यक्षता में एक विराट आम सभा बुलायी गयी और इस अमानुषिक कार्रवायी का विरोध करने के लिए नौजवानों को प्रेरित किया गया।

26 जनवरी 1931 को सम्पूर्ण स्वतंत्रता दिवस मनाया गया। इस अवसर पर पटना के सात महिलाओं की गिरफ्तारी की गयी, जिसमें चन्द्रावती देवी तथा डॉ० राजेन्द्र प्रसाद की पत्नी श्रीमती राजवंशी देवी भी शामिल थी। इन दोनों को 15 महीने के लिए कारावास की दी गयी।

महात्मा गांधी ने अंग्रेजी सरकार की 'फूट डालो और शासन करो' की नीति के खिलाफ 1941 में पुनः सत्याग्रह आंदोलन शुरू किया, जिसमें बिहार की महिलाओं ने बढ़-चढ़कर भाग लिया। श्रीमती प्रियंवदा देवी, जगतरानी देवी एवं जनक देवी को गिरफ्तार किया गया और इन्हें चार-चार महीनों की कारावास की सजा दी गयी। दुमका की श्रीमती महादेवी केजरीवाल ने दुमका में सत्याग्रह की बागडोर संभाली।

'भारत छोड़ो' आंदोलन के दौरान 9 अगस्त 1942 को डॉ० राजेन्द्र प्रसाद की बहन श्रीमती भगवती देवी के नेतृत्व में पटना में महिलाओं का एक विराट जुलूस निकाला गया। पुनः 11 अगस्त 1942 को हजारीबाग के सरस्वती देवी के नेतृत्व में महिलाओं का एक विशाल जुलूस निकाला गया। उन्हें गिरफ्तार कर भागलपुर जेल भेजने का आदेश दिया गया। भागलपुर के बिहपुर में माया देवी को पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया।

गोविन्दपुर गांव की गिरिया देवी ने कई अंग्रेज सिपाहियों को गोली मार दी। 15 अगस्त 1942 को छपरा के लोगों से अगस्त क्रांति में भाग लेने और क्रांति को तीव्र गति से आगे बढ़ाने की अपील गई। शारदा देवी एवं सरस्वती देवी को दिघवारा प्रखण्ड में तिरंगा फहराने के जुर्म में क्रमशः 14 और 11 वर्ष की सजा दी गई।

श्रीमती जामवंती देवी तथा प्रेमा देवी के नेतृत्व में 19 अगस्त को एक विशाल जुलूस निकाला गया। पुलिस ने इन दोनों को गिरफ्तार कर लिया। संथाल परगना की वीरांगना बिरजी देवी को पुलिस ने गोली मार दी। गया की प्यारी देवी को जेल भेज दिया गया, जहाँ उनकी मृत्यु हो गई। श्रीमती उषारानी मुखर्जी की भूमिका भी अहं रही।

पलामू की कुमारी आर. सी. दास, वासंती देवी, वैशाली की सुनीति देवी, श्रीमती विन्दा देवी एवं बैकुण्ठ शुक्ल की पत्नी राधिका देवी, तारा देवी, मुजफ्फरपुर की भवानी मेहरोत्रा, भागलपुर की रामस्वरूप देवी एवं जरिया देवी, मुंगेर की कुमारी धतुरी देवी, हुकेरी देवी, संपतिया देवी, शाहाबाद की फुई कुमारी, पटना की सुधा कुमारी शर्मा, गया की जरिया देवी आदि कई महिलाओं ने स्वतंत्रता

संग्राम के अग्रणी भूमिका निभायी। घोड़मारा गांव की विराजी मघियाइन, शाहाबाद की अकली देवी, मुंगेर की कुमारी धतुरी देवी अंग्रेज सिपाहियों की गोली की शिकार हो गई और स्वतंत्रता संग्रू की बलिवेदी पर शहीद हो गई।

इस तरह इतिहास गवाह है कि बिहार की वीरांगनाएँ स्वतंत्रता संग्राम में सदैव अग्रणी रहीं हैं और इन वीरांगनाओं के संघर्ष और बलिदास की कहानी भारतीय इतिहास के पन्नों पर ही नहीं, बल्कि सभी भारतीयों के हृदय में आज भी जीवन्त है।

स्वतंत्रता आन्दोलन एवं एम० एन० राय

सरोज कुमार

शोध छात्र, इतिहास विभाग, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा

मार्च-अप्रैल 1887 में एक शिक्षक दीनबन्धु भट्टाचार्य के घर में नरेन्द्र नाथ भट्टाचार्य (एम. एन. राय का मूल नाम) का जन्म 24 परगना जिले के अरबलिया गाँव में हुआ था। दीनबन्धु भट्टाचार्य सुधारवादी दृष्टिकोण के व्यक्ति थे। रूढ़ियों से जकड़े समाज में पिता के सुधारवादी दृष्टिकोण का प्रभाव नरेन की जिन्दगी पर पड़ा। लेकिन बंगाल के क्रांतिकारी राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रभाव में वे अपने किशोर अवस्था में ही आ गये, जो पूरी जिन्दगी उनके साथ जुड़ा रहा। उन्हीं शुरूआती दौर में उनके कुछ मूल भावनात्मक एवं बौद्धिक सरोकारों ने आकार ग्रहण किया। नरेन एक प्रतिबद्ध क्रांतिकारी हो गये। उनकी शिक्षा बाधित हुई। उनकी पारिवारिक कठिनाइयों के चलते भी ऐसा हुआ होगा। नये स्थापित राष्ट्रीय महाविद्यालय, जिसके साथ श्री अरविन्दो जुड़े हुए थे, से नरेन ने इंट्रेस परीक्षा में उत्तीर्णता प्राप्त की। उसके बाद उन्होंने बंगाल तकनीकी संस्थान में दाखिला लिया लेकिन वर्ष 1907 में एक राजनैतिक डकैती में शामिल होने के चलते, संस्थान का त्याग कर दिया।

राय की शुरूआती गतिविधियों एवं साहसिक कार्रवाइयों तथा बाद में उनके राजनैतिक एवं बौद्धिक विकास को समझने के लिये, राष्ट्रीय क्रांतिकारी आन्दोलन या "अतिवादी राष्ट्रवाद" की विचारधारा को समझना आवश्यक है।

प्रो. मजुमदार के शब्दों में बंगाल का जुझारू राष्ट्रवाद दो स्तम्भों पर टिका हुआ है। वेदान्त एवं गीता के दार्शनिक शिक्षा के आधार पर स्वामी विवेकानन्द का देशभक्ति का आह्वान तथा बंकिम चन्द्र द्वारा मातृभूमि के प्रति धार्मिक भक्ति।[1] लेकिन नये राष्ट्रवाद के सबसे बड़े पुरोधा श्री अरविन्दो ने इस जुझारू राष्ट्रीय आन्दोलन को भारत में एक गहरी एवं विस्तारित राजनैतिक अनुकूलता प्रदान की। भारतीय अतिभूतवादी भाषा में लिपटे उनके राष्ट्रीय दर्शन में हेगेल के दर्शन की मजबूत छाप थी।[2]

जिस राष्ट्रवाद की उन्होंने शिक्षा दी वह सर्वोत्तम धर्म था। चूंकि राष्ट्रीय स्वतंत्रता ईश्वर प्रदत्त है इसलिये राष्ट्रीय संघर्ष एक पवित्र (धार्मिक) उद्देश्य है जिसमें सभी तरह के संकीर्ण स्वार्थों, संबंधों, यहाँ तक कि सामान्य नैतिक विचारों को पीछे छोड़ना पड़ता है। वे स्वतंत्रता के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये तथा उसे प्राप्त करने के तरीके के बारे में कोई समझौता करने के लिये तैयार नहीं थे। सुधारवादी कांग्रेसजनों के राजनैतिक कार्यकलापों के ठीक उलट उनकी राजनीति के महत्व एवं निहितार्थों को समझा जा सकता है। यह बात उस समय सामने आई जब 1907 के सूरत कांग्रेस (सम्मेलन) में सुधारवादी कांग्रेसजनों को इन अतिवादियों के गंभीर चुनौती का सामना करना पड़ा, उस समय तक कांग्रेस पर इन्हीं सुधारवादी या उदारवादियों का वर्चस्व था। ये सुधारवादी प्रशासन में भारतीयों की पूर्ण भागीदारी, सही कर नीतियों के जरिये भारतीय उद्योगों की सुरक्षा आदि माँगे रखते थे। वस्तुतः ब्रिटिश शासित राज्य, विकास के रास्ते के बारे में एक उदाहरण प्रस्तुत कर रहा था। इन अधिकारों को प्राप्त करने के लिये ये उदारवादी संवैधानिकता का सहारा ले रहे थे। वे बार-बार ब्रिटिश सरकार की न्यायप्रियता की दुहाई देते थे तथा कभी-कभी उनकी आवाज गिड़गिड़ाहट में बदल जाती थी। बौद्धिक रूप से अतिवादी विचारधारा के सबसे तेजस्वी प्रणेता के रूप में

श्री अरविन्दो ने इन उदारवादी कांग्रेसी नेताओं की कटुतम शब्दों में निन्दा की। राजनैतिक स्वतंत्रता किसी भी देश के लिये हमारी सांस के समान है।[3]

राजनैतिक स्वतंत्रता का लक्ष्य हासिल किये बगैर, सामाजिक सुधार, शिक्षा में सुधार, उद्योगों का विस्तार एवं राष्ट्रीय जाति के नैतिक मूल्यों के उत्थान के प्रयास, मूर्खता की हद एवं बेकार की बात है। उन्होंने जोर देकर कहा कि एक पराधीन राष्ट्र स्वतंत्रता हासिल करने के लिए धीरे-धीरे अपने को तैयार नहीं करता है, यह स्वतंत्रता हासिल कर प्रगति की ओर बढ़ता है।[4] उन्होंने भिक्षा माँगने के तरीके तथा प्रार्थना एवं आवेदन करने एवं प्रतिरोध करने की नीतियों की खिल्ली उड़ाई। राष्ट्रीय आन्दोलन के लिये विस्तारित सामाजिक आधार की कल्पना, उनके राजनीति की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता थी। उन्होंने सुधारवादियों के मध्यवर्ग के प्रति एक खास तरह की पक्षधरता, उनकी आम जनता के प्रति विश्वास का अभाव, उद्योग, व्यापार, पेशा, प्रशासन में लगे मध्य वर्ग के प्रति मोहग्रस्तता की तीखी आलोचना की।[5] इसके विपरीत उन्होंने बहुत ही प्रगतिशील लहजे में कहा कि इस परिस्थिति से लड़ने की कुंजी सर्वहारा है। जो कोई भी सर्वहारा की स्थिति को समझने की कोशिश करता है और उसकी ताकत को अपने पक्ष में करता है, वही परिस्थिति का मालिक होगा। हमारा पहला एवं सबसे पवित्र उद्देश्य सर्वहारा को ऊपर उठाना और उसे ज्ञान के प्रकाश से आलोकित करना है। एक धार्मिक राष्ट्रवादी जो समाजवादी नहीं है, उसके मुँह से सर्वहारा की बात सुनना, एक तरह से असंगत लगता है। लेकिन बंगाल के जुझारू राष्ट्रीय आन्दोलन को अरविन्दो ने जो नयी ऊर्जा एवं उसे नयी स्थिति प्रदान की, उसमें इन विचारों का एक बड़ा प्रभाव होगा। कम से कम उच्च मध्यवर्ग एवं उनकी राजनीति के बारे में वितृष्णा का भाव तो होगा ही।[6]

19वीं सदी के अन्तिम समय में बंगाल के उग्र युवाओं ने स्वामी विवेकानन्द से प्रेरणा प्राप्त करते हुए लाठी का प्रयोग करने तथा शारीरिक व्यायाम के लिये व्यायाम शालाएँ स्थापित की। इन व्यायाम शालाओं ने 1901 में प्रमथ मित्रा के नेतृत्व में सर्वविदित क्रांतिकारी संस्था अनुशीलन समिति के गठन का आधार प्रदान किया।[7] करीब-करीब उसी समय श्री अरविन्दो ने इसी तरह की संस्था के गठन पर विचार किया। वस्तुतः उन्होंने बड़ौदा से जतीन मुखर्जी एवं अपने छोटे भाई बरिन्द्र घोष को इस उद्देश्य के लिए बंगाल भेजा। लेकिन जल्द ही उनका संगठन अनुशीलन समिति के साथ समाहित हो गया जो बंगाल और भारत के अन्य हिस्सों में गुप्त गतिविधियों का प्रमुख संगठन हो गया। बंकिम चन्द्र के आनंद मठ का संगठन पर प्रभाव तथा बंगाल में अनुशीलन समिति का अनुशासन तथा 1904 में महाराष्ट्र में उसी तरह का संगठन नवभारत बहुत मजबूती से उभरा। आनंद मठ मातृभूमि की स्वतंत्रता के लिये संन्यासियों के समूह की एक संघर्षपूर्ण कहानी है। आनंद मठ से लिया गया राष्ट्रीय गीत ''वन्देमातरम'' बंकिम चन्द्र की भावना का उद्रेक और भारत माता की पूजा में गाया गया गीत है।[8] संगठन में नये आगंतुकों के लिये जो शपथ दिलाई जाती थी उसमें भारत माता की स्वतंत्रता के लिये पूर्ण प्रतिबद्धता सिखाई जाती थी तथा भारत माता का नाम बहुत आदर एवं भक्तिभाव से ली जाती थी। संगठन के बारे में रायबाबू याद करते हैं कि आनंद मठ हमारी प्रेरणा का समान श्रोत था। उस उपन्यास से हमें क्रांतिकारी आदर्श का दर्शन होता था। वस्तुतः हमलोगों ने उस नाटक के मुख्य पात्रों की भूमिका का बंटवारा अपने बीच कर लिया था। वे संन्यासी थे। हमलोगों ने उनके रास्तों पर चलने की प्रतिज्ञा की थी।[9]

बंगाल के बंटवारे से (1905) पूरे देश में, खासकर बंगाल में क्रोध की लहर दौड़ गई। जुझारू राष्ट्रीयतावाद को और आगे बढ़ने का मौका मिला। आक्रोश से भरे बंगाल के क्रांतिकारी आगे की योजना बनाने में जुट गये। जल्द ही उनके बीच मतभेद उभर गये। उनके बीच जो अतिवादी थे, वे ब्रिटिश शासकों के खिलाफ आंतकवादी कार्रवाई के जरिये उनके हौसले को तोड़ना चाहते थे तथा प्रशासन को प्रभावहीन बनाना चाहते थे। दूसरे लोग आतंकवाद को तिलांजलि देकर अंतिम तौर पर सत्ता पर कब्जा करने के लिये संगठित सैनिक तैयारी करना चाहते थे। इस समूह के नेता अनुभवी प्रमथ मित्रा थे। उनकी मृत्यु के बाद नेतृत्व का भार जतीन मुखर्जी के कंधे पर आ गया। नरेन भट्टाचार्य उनके सिपहसालाकारों में से एक हो गये।[10]

हालांकि नरेन की साहसिक कार्रवाइयों का विस्तार प्रथम विश्वयुद्ध के शुरू होने के बाद हुआ लेकिन उस समय तक वे एक अति साहसी क्रांतिकारी बन चुके थे। वे 1907 में 'चिंगरीपोटा'' डकैती मामले में गिरफ्तार हुए लेकिन पर्याप्त साक्ष्य के अभाव में मुक्त कर दिये गये। वे फिर 1910 में हावड़ा षड्यंत्र मामले में गिरफ्तार किये गये और एक अभियोगी कैदी के रूप में 20 महीनों तक जेल में बंद रहे। जेल से छूटने के बाद, वे थोड़े दिनों के लिये सन्यासी बन गये, लेकिन जल्द ही वे राजनीति में लौट आये।

युद्ध के छिड़ने के बाद, जर्मनी की आर्थिक मदद से बंगाल के क्रांतिकारियों ने एक बड़े हमले की योजना बनाई। उन्होंने आनेवाली क्रान्ति के लिये एक 'जेनरल स्टाफ' का गठन किया तथा जतीन मुखर्जी को उसका प्रधान सेनापति बनाया।[11] कोष की वसूली के लिये उनलोगों की कई डकैतियों (दोनों डकैतियाँ फरवरी 1915 में हुई) में नरेन शामिल थे। लेकिन उनकी योजना का केन्द्र बिन्दु गुप्त रूप से जर्मनी से बड़े पैमाने पर अस्त्र प्राप्त करना था। जर्मनी और फ्रांस्सिको में कार्यरत भारतीय क्रांतिकारियों से संबंध स्थापित किये गये। पूर्व निर्धारित योजना के मुताबिक एस. एस. मेमरिक को अस्त्र लादकर भारत आना था। अस्त्रों को पहुँचाने की व्यवस्था के लिये अप्रैल 1915 में नरेन को बटाविया भेजा गया। उन्होंने अपना नाम सी. मार्टिन रख लिया। वे बटाविया में जर्मनी के वाणिज्य दूत थियोडोर टेल्फी से मिले। अस्त्र से भरे जहाज को उड़ीसा तट पर भेजने की योजना बनाकर, वे वापस चले आये। एस. एस. मेमरिक, अमरीकी एवं ब्रिटिश अधिकारियों के चपेट में पड़ गये और अपने नियत स्थान पर नहीं पहुँच सके। नरेन ने फिर अगस्त में दूसरी बार जावा की यात्रा की। लेकिन इस बार की असफलता के बाद वे भारत नहीं लौटे और अपना भाग्य आजमाने जापान चले गये। रास बिहारी बोस से निराशा के बाद, चूँकि उनसे नरेन की ज्यादा अपेक्षा थी, उन्होंने सनयात सेन से भेंट की जिन्होंने जापान में आश्रय लिया था। सनयात सेन ने उनके सामने प्रस्ताव रखा कि अगर वे जर्मनी के राजदूत से 50 लाख डॉलर प्राप्त करने में सफल हों तो वे उस रूपये का उपयोग यू आन शी काई को परास्त करने में करेंगे और तीसरी क्रान्ति को सफल बनायेंगे।[12] इस क्रान्ति को पूरा होने के बाद, जो बेकार अस्त्र-शस्त्र होंगे वे उत्तर सीमांत की ओर से भारत भेज दिय जायेंगे। इस महायोजना ने मेरी साहसिक ऊर्जा को पंख लगा दिया। बहुतेरे साहसिक कारनामों के बाद उन्होंने चीन में जर्मनी के राजदूत एडमिरल वॉन हिन्ज से मुलाकात की। राजदूत ने उन्हें सलाह दिया कि इतनी बड़ी रकम आवंटित करने का काम जर्मन शाही सेनापति ही कर सकते हैं, अतः आप जर्मनी चले जाँय।[13]

चीन और जापान में सम्मानजनक कार्य नहीं करने की स्थिति में उन्होंने बर्लिन जाने से पहले, अमेरिका में रहने वाले क्रांतिकारियों से संबंध स्थापित करने का निर्णय लिया। बहुतेरे रोमांचक

कारनामों के बाद नरेन 1916 में अन्ततः सन फ्रांसिसको पहुँच गये। लेकिन पुलिस से होनेवाली मुश्किलों को भांपते हुए वे स्टेन फोर्ड विश्वविद्यालय वाले शहर पालो आल्टो चले गये। वहाँ वे धन-गोपाल मुखर्जी से मिले जो जादु गोपाल मुखर्जी के छोटे भाई थे। जादु गोपाल मुखर्जी, नरेन के भारत में क्रांतिकारी सहयोगी थे। धन गोपाल मुखर्जी के सुझाव पर उन्होंने अपना नाम एम. एन. राय रख लिया। उसी विश्वविद्यालय परिसर में उन्हें एक स्नातक महिला एवलिन से मुलाकात हुई। उनलोगों ने आपस में विवाह करने का निर्णय लिया और वे वहाँ से न्यूयार्क रवाना हो गये, जहाँ उन्होंने लाला लाजपत राय के साथ दोस्ती गांठी। लाजपत राय उन दोनों के प्रति स्नेहशील थे और राय के बारे में उनकी सोच सकारात्मक थी। यही पर नरेन मार्क्सवाद की ओर मुड़े, लेकिन उनके बौद्धिक विकास का वाजिब श्रेय एवलिन को दिया जाना चाहिये। न्यूयार्क में लाजपत राय और राय आमतौर पर प्रगतिशील लोगों, समाजवादियों, अराजकतावादियों संघवादियों के साथ वाद-विवाद में मार्क्सवादी भौतिकवाद का विरोध करते थे।[14] इस वाद विवाद में वे आध्यात्मिक ज्ञान का सहारा लेते थे। वाद-विवाद में प्रभावी ढंग से हिस्सा लेने के लिये राय ने मार्क्सवादी साहित्य का अध्ययन किया। लेकिन इस संबंध में याद करते हुए वो कहते हैं कि इस अध्ययन ने उनके उद्देश्य को पराजित करने की स्थिति पैदा कर दी। एक दिन जब लाजपत राय साम्राज्यवादी शोषण के चलते भारत की गरीबी की हृदयविदारक तस्वीर पेश कर रहे थे, एक क्रांतिकारी ने उनसे प्रश्न किया कि भारत की स्वाधीनता के बाद भारतीय कैसे देश से गरीबी खत्म करने का काम करेंगे? लाजपत राय द्वारा इस संबंध में दिये गये असंतोषजनक उत्तर के बाद फिर एक प्रश्न पूछा गया कि भारतीय जनता को इस बात से क्या फर्क पड़ता है कि उनका शोषण विदेशी साम्राज्यवादियों के बदले देशी पूँजीपतियों द्वारा हो रहा है?[15]

हालांकि लाजपत राय क्रोधित हो गये लेकिन इस प्रश्न ने राय के विचार में पूर्ण बदलाव ला दिया। राय ने इस संबंध में याद करते हुए कहा है, कि मैं इस प्रश्न के सामने अन्दर से बेचैनी महसूस कर रहा था, हमारे मामले में कुछ बातें गलत थीं। अचानक मेरे मस्तिष्क में एक प्रकाश कौंध गया और यह एक नये ढंग का प्रकाश था। न्यूयार्क सार्वजनिक पुस्तकालय में उन्होंने कार्ल मार्क्स की कृतियों का गहराई से अध्ययन किया और उसमें उन्होंने नया अर्थ ढूढ़ा। वे आगे कहते हैं, कि उसके बाद मैंने भौतिकवादी दर्शन को छोड़कर, समाजवाद ग्रहण कर लिया। वह अन्तिम प्रयास था, जिसकी रक्षा मैंने लम्बे समय तक की। वर्ष 1917 के शुरूआती समय में वे जर्मन-हिन्दू षड्यंत्र मामले में गिरफ्तार किये गये और न्यायालय के सामने प्रस्तुत किये गये। न्यायालय ने उन्हें वहाँ से भागने के विरुद्ध चेतावनी दी। लेकिन कानून के रक्षकों को झांसा देने में माहिर राय भागकर मैक्सिको चले गये।[16]

मैक्सिको न सिर्फ सुरक्षित और रहने लायक ही जगह था, बल्कि उसने इनके ऊपर कल्पना से परे सम्मान, अवसर एवं सहुलियतें न्योछावर कर दी। एक अजीब तरह के षड्यंत्रकारी घटना क्रम के दौरान राय को जर्मनी के श्रोत से तथा मैक्सिको सरकार से अप्रत्याशित आर्थिक मदद मिल गई। वे ऊँची राजनैतिक, सामाजिक और खासकर समाजवादी खेमे में एक ऐसे व्यक्ति के रूप में पहचाने जाने लगे जिससे सभी मिलना चाहते हो। यह एक ऐसा अनुभव था जिससे मुझे भाग्य पर भरोसा होने लगता लेकिन चूंकि मैं जन्म से ही शंकालू था, इसलिये मैं भाग्यवादी होने से बच गया।[17]

जब नरेन मैक्सिको में थे उसी समय बोल्शेविक क्रान्ति हुई। मैक्सिको के तमाम वामपंथी समाजवादियों पर इसका ऊर्जामय प्रभाव पड़ा। राय ने इस प्रभाव का निम्नलिखित शब्दों में वर्णन

किया है। मैं इस ऊर्जामय प्रभाव के वशीभूत हो गया। यह मेरे राजनैतिक विकास का नविनीकरण था। यह एक कट्टर राष्ट्रवादी का साम्यवाद की ओर छलांग थी। इस बदलाव का आंतरिक मनोविज्ञान बहुत रोचक है।

राय द्वारा बाद में दी गई बातों की जानकारी नीचे दी जा रही है। (हालांकि ये जानकारियाँ तार्किकता के तत्व से एकदम मुक्त नहीं हो सकती है) जिससे उनके बौद्धिक विकास का संभावित सूत्र प्राप्त होता है। राय कहते हैं कि ''सबसे क्रान्तिकारी विश्वास के प्रतिनिष्ठा व्यक्त करना एक भावनात्मक संतुष्टि थी। सांस्कृतिक तौर पर मैं अभी भी राष्ट्रवादी था। और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद एक ऐसा दुराग्रह है जो बहुत देर तक जकड़े रहता है। अपने साम्राज्यवाद विरोधी वैचारिक तेवर के चलते समाजवाद, मुझे एक सही विचारधारा लग रहा था। इसके आदर्शवादी एवं मानवीय पहलू उनके लिये उतने नये नहीं थे, जिन्होंने आनन्दमठ से क्रांतिकारी प्रेरणा ग्रहण की थी।

राष्ट्रीय क्रांति का पुराना परिपेक्ष्य अब समाजवादी परिपेक्ष्य के रूप में सामने आ चुका था। इसके साथ ही, जहाँ तक पुराने कामरेडों को सहायता देने का सवाल है, यह उनका कर्तव्य है। जर्मनी का दृष्टिकोण उत्साहजनक था। वस्तुत: यूरोप में अपनी हार के बाद उन्होंने अपनी महत्वाकांक्षी रणनीति को लागू करने के लिये व्याकुलता के साथ भारत और अन्य क्षेत्रों का उपयोग करने के लिये उनकी ओर हाथ बढ़ाया। जर्मनी का शाही वाणिज्यिक अधिकारी, मैक्सिको आया और राय के साथ चीनी अस्त्र खरीदने की पुरानी योजना पर चर्चा की। राय को सभी संभव सुविधाएँ प्रदान करने का आश्वासन दिया गया तथा मैक्सिको के राष्ट्रपति ''कोरेन्जा'' जिन्हें सारी बातों की जानकारी थी, उन्होंने इस योजना में राय के कामयाबी की कामना करते हुए उनके यात्रा का पूरा इंतजाम किया। लेकिन मैक्सिको के जमीन एवं समुद्री मार्ग के द्वारा मैक्सिको तट के इर्द-गिर्द थकावट पूर्ण यात्रा के बाद राय ने इस योजना पर कार्य करना बंद कर दिया और मैक्सिको लौट आए। उन्होंने राष्ट्रीय राजनीति के पुराने रास्ते को पुरी तरह तिलांजली दे दी और अपने नये आदर्श समाजवाद को साकार करने में पूरी निष्ठा से कूद पड़े ।[18]

सरकारी संरक्षण एवं पैसे की अधिकता से राय एक आरामदायक जिन्दगी, यहाँ तक कि ऐशपूर्ण जिन्दगी जी सकते थे। उनके जो पुराने सात्विक संकोच थे वे धीरे-धीरे समाप्त हो गये और उन्होंने जीवन से जुड़ी अच्छी चीजों की प्रशंसा शुरू कर दी। वे अच्छे भोजन, पेय पदार्थों, नृत्य, गीत आदि का आनंद लेने लगे। यह उनकी जीवन दृष्टि में एक मौलिक परिवर्तन का द्योतक था। हालांकि बहुत बाद में उन्होंने भौतिकवाद को जिन्दगी से जुड़ा दर्शन बतलाया, लेकिन वे खुद भौतिकवादी हो गये थे क्योंकि वे जीवन के आनंद में शामिल होना कोई बुराई नहीं समझते थे। और उन्होंने सात्विकता को अवैज्ञानिक, अमानवीय एवं ढोंगीपन के रूप में देखना शुरू किया। यह उनके साथ एक प्रतिबद्ध विचारधारा के रूप में जुड़ा रहा जो उनके मानवतावादी दर्शन का आधार बना।[19]

लेकिन सबसे उनके जीवन का नाटकीय पहलू, उनका देश के सार्वजनिक जीवन में प्रसिद्धि पाना है। एक अनजाने विदेशी के साथ राष्ट्रपति एवं अन्य मंत्रियों द्वारा देश की ऊँची राजनीति के बारे में सलाह-मशविरा और उनका एक राजनेता के रूप में सम्मान तथा विशेष भोज में स्वागत सत्कार तथा देश के बौद्धिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में बिना माँगे एवं अप्रत्याशित ढंग से नेतृत्वकारी भूमिका प्रदान करना, निश्चय ही विस्मयकारी है । ऐसे अवसरों के मर्मस्पर्शी अनुभवों को राय ने अपनी प्रतिक्रिया में इस तरह व्यक्त किया है – ऐसे तमाम घटनाक्रम ''हॉस्य ओपेरा'' से लिये गये दृश्यों की तरह

होता था। यह एक जासूसी कहानी की तरह लगता था। ऐसा प्रतीत होता था कि भाग्य मुझे फिर से मेरी निष्ठा को हासिल करने के लिये दृढ़ प्रतिज्ञ है।

एक बुद्धिजीवी के रूप में राय ने एक अच्छी शुरूआत की। उन्होंने स्पेनिश भाषा सीखी और वामपंथी स्पेनिश पत्रिकाओं में लिखना शुरू किया। भारत पर स्पेनिश में उनकी किताब ''ला इंडिया : सू पसाडे, सूप्रेजेन्ट, सूपोरमेनीर 1918 में प्रकाशित हुई। इस छोटी किताब में मोनरो सिद्धान्त पर लिखा–"दी वे टू डुरेबुल पीस" जब अमरीका में राय थे तब लिखा गया था, जोड़ दिया गया। इस किताब को प्रशंसा मिली। विश्वविद्यालय के रेक्टर मेस्ट्रो कैसास के आमंत्रण पर उन्होंने एक भाषण दिया। यह एक ऐसे आदमी के लिये जिसे किसी औपचारिक शिक्षा का लाभ नहीं मिला है, अत्यन्त ही आनन्ददायक बात थी। मैक्सिको के समाजवादी आन्दोलन में राय का चमत्कारिक महत्व था। इसमें कोई शंका नहीं कि मैक्सिको की सरकार और वहाँ का समाजवादी आन्दोलन जिस तरह राय के व्यक्तित्व का इस्तेमाल करना चाहते थे उससे राय की इतनी ऊँची हैसियत हो गई थी। लेकिन यह राय की कोई छोटी उपलब्धि नहीं थी कि वे इस परिस्थिति के अनुरूप एक बड़ी हस्ती बन गये थे। एक बौद्धिक एवं राजनैतिक नेता के रूप में अपने को सम्पन्न साबित करने में वे आश्चर्यजनक रूप से कामयाब रहे। दिसम्बर 1918 में मैक्सिको की समाजवादी पार्टी के महासचिव चुने जाने के बाद उन्होंने उस पार्टी को वर्ष 1919 में कम्युनिस्ट पार्टी के रूप में बदलने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यह रूस के बाहर पहली कम्युनिस्ट पार्टी थी।[20]

कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के प्रतिनिधि के तौर मैक्सिको आये बोरोदिन ने इस बात के लिये प्रमुख रूप से पहल किया। मैक्सिको आने के बाद बोरोदिन ने राय से गहरी मित्रता गाँठ ली। हालांकि राय ने बोरोदिन को आर्थिक संकट एवं अन्य संकटों से मुक्त होने में सहायता की लेकिन बोरोदिन की मित्रता से राय की जिन्दगी में एक बड़ा बदलाव आ गया। राय के अनुसार बोरोदिन ने उन्हें हेगेल के द्वन्द्ववाद की गुन्थियों से साक्षात्कार कराया, जो मार्क्सवाद की कुंजी है। भारतीय ज्ञान के संबध में जो लम्बे समय से चला आ रहा विश्वास था, वह धूमिल पड़ता गया और उनसे मैंने यूरोप की संस्कृति का ज्ञान प्राप्त किया। बोरोदिन ने उन्हें मैक्सिको की कम्युनिस्ट पार्टी के प्रतिनिधि के रूप में ''कम्युनिस्ट इंटरनेशनल'' के दूसरे सम्मेलन में शामिल होने के लिये राजी किया। उन्होंने राय द्वारा उनके पुनर्जन्म की जगह को छोड़े जाने में हो रही हिचकिचाहट को दूर किया और कहा कि अपने देश को मत भूलों, मास्को तो रास्ते में है। राय ने टिप्पणी की कि इस बात से उनके सामने एक नया दृश्य कौंध गया, यह मेरे जीवन का नया अध्याय था।

मास्को की उनकी यात्रा उत्तेजनापूर्ण अनुभवों के बगैर पूरी नहीं हुई। इस बार उन्होंने वी. ग्रेसिया के नाम से यात्रा की और मैक्सिको की सरकार ने उन्हें बहुत सारी सहूलियतें प्रदान की। रास्ते में वे बर्लिन में रूक गये (दिसम्बर 1919 से अप्रैल 1920)। यह उनकी अंतिम यात्रा नहीं थी। बर्लिन में ठहरना, उनके लिये बहुत उपयोगी साबित हुआ। मैंने बहुत कुछ सीखा और बहुत से नये मित्र और परिचित बनाये।[21]

जिनको मित्र बनाया और नये लोगों से परिचित हुए उनमें जर्मन सामाजिक जनवादी आन्दोलन के पुराने कद्दावर नेता, बर्न्सटीन, काउत्सकी, हलफरडिंग और नये कम्युनिस्ट नेता थैलिमर, ब्रान्डलर, फुक्स, एनेस्ट मेयर, इसके साथ-साथ उन्हें विश्व के विभिन्न हिस्सों के क्रांतिकारियों के साथ क्रांति

की समस्या पर बात करने का अवसर मिला। यह जर्मनी में कम्युनिस्ट क्रान्ति का घटनाओं से भरा दौर था। यह गौरवशाली संघर्षों एवं दर्दनाक पराजय का दौर था। बर्लिन में रूकने से उनकी सैद्धांतिक समझ ज्यादा समृद्ध तथा व्यवहारिक अर्न्तदृष्टि गहरा हुआ होगा।

कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के बहसों में जो बाद में उन्होंने हिस्सा लिया, वह ठोस आकार ग्रहण कर रहा था। जर्मनी में अनेकों महीनों तक रहने से मुझे यूरोप के हालात का पता चला और उनके तात्कालिक परिप्रेक्ष्य से मेरी यह समझ बनी कि महानगरीय देशों के सर्वहारा सत्ता हासिल करने के साहसिक प्रयास में तबतक सफल नहीं होंगे जबतक कि औपनिवेशिक देशों की जनता विद्रोह के जरिये साम्राज्यवाद को कमजोर न कर दे।

मास्को पहुँचने के बाद उनकी मुलाकात रूस की कम्युनिस्ट पार्टी एवं कम्युनिस्ट इंटननेशनल के शीर्ष नेतृत्वकारी साथियों से हुई। उन दिनों के उनके जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख किया जा सकता है। बोल्शेविकवाद की माँ बालबानोवा के साथ एक बैठक के दौरान, राय को कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के दूसरे सम्मेलनों के लिये लेनिन द्वारा राष्ट्रीय एवं औपनिवेशिक प्रश्न पर तैयार सैद्धान्तिक दस्तावेज दिया गया। ऊपर के पृष्ठ के बाये कोने पर लेनिन ने लिखा था, राय के आने पर उनकी आलोचना एवं सुझाव लिये जॉय। राय ने इसका वर्णन करते हुए कहा कि सचमुच में मेरे लिये यह सातवें आसमान पर उड़ने वाली बात थी।

राय को कुछ देर के बाद लेनिन से मिलने के लिये कहा गया। उत्तेजना के मारे वे उस दस्तावेज को लेनिन से मिलने से पहले सावधानी पूर्वक नहीं पढ़ सके। लेनिन के साथ राय की पहली मुलाकात अत्यन्त संक्षिप्त थी, लेकिन यह उनकी जिन्दगी के लिये सबसे स्मरणीय घटना थी। राय ने कामिन्टर्न के दूसरे सम्मेलन में औपनिवेशिक एवं पराश्रयी देशों में कम्युनिस्ट पार्टी की रणनीति एवं कार्यनीति के सवाल पर लेनिन के साथ बहस किया। राय का लेनिन के साथ प्रसिद्ध विवाद, किसी नौसिखुए महत्वाकांक्षी व्यक्ति का नाटकीय ढंग से हठधर्मिता दिखलाना नहीं था। उनका लेनिन के साथ निजी तौर पर बहस हुआ था। उसके बाद उन्होंने लेनिन के ही कहने पर अपनी ओर से एक पूरक दस्तावेज प्रस्तुत किया। लेनिन का विचार था कि औपनिवेशिक एवं अर्द्ध औपनिवेशिक देशों में साम्राज्यवाद का आधार देशी सामन्तवाद के बीच हैं और इसके आलोक में चूँकि पूँजीवादी राष्ट्रीय आन्दोलन प्रगतिशील प्रकृति का है।

अतः इस संदर्भ में इसे सभी कम्युनिस्टों का समर्थन मिलना चाहिये। भारतीय पृष्ठभूमि के आधार पर बोलते हुए राय ने विचार व्यक्त किया कि पूँजीपतियों की शक्ति को कम करके आंका जा रहा है और उसकी प्रकृति को समझने में भूल की गई है। हमलोगों ने देखा है कि किस तरह बंगाल के जुझारू राष्ट्रवादी कांग्रेसी उदारवादियों के आवेदन देने, प्रार्थना करने और प्रतिरोध करने की बात को नापसन्द करते थे। श्री अरविन्दो ने सर्वहारा के हितों और उसकी संभावनाओं के बारे में खुलकर बातें रखी थीं। एक मार्क्सवादी होने के नाते, लेनिन के साम्राज्यवाद संबंधी सिद्धांतों के आधार पर वे भारतीय क्रांति को एक भिन्न परिपेक्ष्य में देखते थे। हालांकि यह समाजवादी क्रांति नहीं था लेकिन यह पूँजीवादी जनवादी क्रांति के दौर से बहुत आगे था। युद्ध के बाद भारत में आर्थिक विकास के क्रम में उन्होंने इस नीति की कल्पना की जिसके अनुसार ब्रिटिश सरकार की ओर से भारतीय

पूँजीपतियों को छूट दी जायेगी और भारत का पूंजीपति वर्ग उसके साथ समझौता करेगा। राष्ट्रवादी राय के लिये पूँजीपतियों के व्यवहार पर विश्वास करना संभव नहीं था और एक मार्क्सवादी राय के लिये तो यह और भी दुष्कर बात थी। वे भारत में समाजवादी क्रांति के विकास के लिये इसमें और ज्यादा गहरा महत्व खोजने लगे। इसीलिये राय ने शुरू से ही पूँजीपतियों के प्रति सावधानी बरतने की नीति अपनाई और सही सामाजिक आधारों, मजदूरों, किसानों तथा निम्न पूजीपतियों पर विश्वास करने की बात कही। इसके आगे उन्होंने कहा कि साम्राज्यवादी मुल्कों द्वारा औपनिवेशिक देशों के शोषण से लिये गये अत्यधिक मुनाफे के कारण ही ये देश टिके हुए हैं इसलिये क्रांति का भविष्य पूर्व की जीत पर ही निर्भर है।[22]

हालांकि रूसी एवं अन्य कम्युनिस्ट नेता राय के विचार से पूरी तरह सहमत नहीं हुए लेकिन उनसे वे प्रभावित जरूर हुए। उन्हें जिम्मेदारी वाला पद दिया गया और वे पूर्व के देशों के प्रधान प्रवक्ता के रूप में सम्मानित किये गये।

सम्मेलन के बाद राय को ताशकन्द में क्रांतिकारी आधार तैयार करने की एक महत्वपूर्ण जिम्मेदारी दी गई। भारतीय सीमा के साथ इसकी नजदीकी और रूसी सरकार का अफगानी सरकार के साथ दोस्ताना संबंध के चलते, वहाँ क्रान्ति के सैनिकों को तैयार करना एक अच्छा एवं संभावना से भरा लक्ष्य था। ताशकन्द में राय के ठहरने के दौरान उन्हें उत्तेजनात्मक अनुभवों से गुजरना पड़ा।

उसी समय भारत में खिलाफत आन्दोलन परवान चढ़ रहा था तथा मुजाहिरों का एक समूह लम्बे एवं कठिनाइयों से गुजरते हुए पैदल तुर्की जाने के बजाय ताशकन्द पहुँचा। राय ने इन लोगों के राजनैतिक शिक्षण का काम किया एवं उनके लिये भारतीय सैनिक स्कूल में सैनिक शिक्षा का प्रबंध किया। प्रवासी कम्युनिस्ट पार्टी का गठन 1920 के अन्त में या 1921 की शुरूआत में हुआ। लेकिन ब्रिटेन के विरोध के चलते सैनिक विद्यालय को बन्द करना पड़ा। प्रवासी कम्युनिस्ट पार्टी का मुख्यालय मास्को चला गया। राजनैतिक क्रांतिकारियों की राजनैतिक शिक्षा एवं प्रशिक्षण के लिये पूर्व के श्रमिकों के लिये कम्युनिस्ट विश्वविद्यालय की स्थापना 1922 में की गई। राय को इस विश्वविद्यालय का निदेशक नियुक्त किया गया। इस विश्वविद्यालय में हो. ची. मिन्ट के एक छात्र के रूप में दाखिले की चर्चा है।

कॉमिन्टर्न में राय का उत्थान बहुत तेज गति से तथा अचंभित करने वाला था। 1922 में इसके कार्यकारिणी समिति के उम्मीदवार सदस्य के रूप में शुरू करते हुए, 1924 में ये इस समिति में मतदान के अधिकार के साथ पूर्ण सदस्य हो गये तथा 1926 तक इनके प्रभाव ने अन्तिम ऊँचाई प्राप्त कर ली। उन्होंने कॉमिन्टर्न के एक के बाद एक होनेवाले सम्मेलनों (1921 तीसरा सम्मेलन, चौथा 1922, पाँचवाँ 1924) में औपनिवेशिक एवं पराश्रयी मुल्कों में क्रांति की राजनीति एवं कार्यनीति के संबंध में पारित प्रस्तावों एवं नीतिगत प्रश्नों पर राय के प्रभाव को देखा जा सकता है।[23]

1928 के छठे कमिन्टर्न के सम्मेलन में निष्कासन के पहले तक, राय एक मार्क्सवादी लेखक, पत्रकार एवं संगठक के रूप में बहुत सक्रिय थे। इन वर्षो के दौरान इन्होंने दो महत्वपूर्ण किताबें लिखी। 1. ''इंडिया इन ट्रांजीशन (भारत परिवर्तन के दौर में) 2. ''दी फ्यूचर ऑफ इंडियन पालिटिक्स'' (भारतीय राजनीति का भविष्य)। ये किताबें उन्होंने अपनी खास अंदाज में लिखी।

परिस्थितियों के अनुकूल बर्लिन, ज्यूरिख, एन्ने और पेरिस में रहने के दौरान उन्होंने दो पत्रिकाओं को सम्पादित किया। ''वेन्गार्ड ऑफ इंडियन इंडिपेन्डेन्स'' (भारतीय स्वाधीनता का अगुआ दस्ता) इन पत्रिकाओं की प्रतियों को उन्होंने चोरी-छिपे भारत में भेजने की व्यवस्था की। उन्होंने कॉमिन्टर्न के मुख पत्र, इन्प्रेकर में लेखन के माध्यम से योगदान किया। हालांकि उन्होंने भारत में कम्युनिस्ट आन्दोलन की ताकत को बढ़ा-चढ़ाकर तथा गांधी की ताकत को कम करके आंका लेकिन वे भारतीय राजनीति में एक हद तक क्रांतिकारी (मौलिक सुधारवादी) रूझान पैदा करने में सफल हुए तथा भारत में साम्यवाद के विकास के लिये जगह मिली।

चीन की पराजय और उससे जुड़ी परिस्थितियों के बाद कॉमिन्टर्न से निष्काषन की घटनाओं का जिक्र अध्याय पाँच में हैं। वे 1930 में भारत लौट गये। लेकिन 1924 एवं 1926 के कम्युनिस्ट षड्यंत्र मामले के अभियुक्त के नाते उन्हें 6 वर्ष के लिये कारावास की दण्ड सुनाई गई। 1936 में अपनी रिहाई के बाद उन्होंने ''एलेन'' से विवाह किया, जिनसे उनका परिचय भारत आने से पहले जर्मनी में हुआ था। (एवलिन और राय 1926) में एक-दूसरे से अलग हो चुके थे) राय के प्रति एलेन की प्रतिबद्धता तथा उनके साथ सहयोग की बातें रायवादियों के बीच मशहूर हैं।

राय ने तत्काल राजनैतिक गतिविधियों में हिस्सा लेना शुरू किया, लेकिन इस बीच में वे बड़े तौर पर बदल चुके थे। जेल के अन्दर उन्होंने दर्शन पर ढेरों किताबें पढ़ी। हालांकि अभी भी वे राजनैतिक समस्याओं के बारे में मार्क्सवादी दृष्टिकोण अपनाते थे लेकिन अब उनके ऊपर दार्शनिकता की छाप ज्यादा दिखाई पड़ती थी। वे मार्क्सवाद को एक नई रोशनी में देखने लगे। करीब 6 वर्षों तक उनके अन्दर बौद्धिक जंग जारी रहा।[24]

यह संघर्ष अपने तर्क पर आधारित था जिसके फलस्वरूप नव मानवतावाद का जन्म हुआ। यहाँ यह कहना माकूल होगा कि राय की राजनीति से निराशा और उसे नहीं पसंद करने के पीछे, उनके विचार में हुआ परिवर्तन उत्तरदायी था। जेल से निकलने के बाद उनके द्वारा लिखी गई ढेरों पुस्तकें, उनके इस वैचारिक परिवर्तन की तरफ इशारा करती है।

तीसवें एवं चालीसवें दशक में राय का राजनैतिक अनुभव, बहुत अच्छा नहीं था। वे कांग्रेस को अपनी तरफ मोड़ना चाहते थे लेकिन कांग्रेसी नेता उनके लिये बहुत चालाक निकले। उन्होंने अपने से सहानुभूति रखनेवालों एवं प्रशंसक समूहों को लेकर ''रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी'' का गठन वर्ष 1940 में किया। यह भारतीय राजनीति में अपनी पहचान नहीं बना सका। धर्म एवं राष्ट्रवाद के बारे में उनकी क्रांतिकारी एवं अलोकप्रिय (अग्राह्य) विचार इसके प्रमुख कारण थे। 1931 के पहले तक के राय ''एक साजिशकर्त्ता'' एक संगठन एवं कार्यनीति निर्धारण करने वाले के रूप में जो भी कहा जाय लेकिन उसके बाद राजनैतिक स्वार्थ परायणता के प्रति उनका कोई लगाव नहीं रहा। उसके बाद एक उद्देश्य के प्रति समर्पित एक बड़े चिन्तक के रूप में उन्होंने काम करना शुरू किया। उनकी मोटी पुस्तकों का बड़ा हिस्सा धर्म और राष्ट्रवाद की आलोचना से जुड़ा हुआ है। हमलोगों को धर्म के बारे में उनके विचारों के बारे में इस अध्ययन के दौर में और बहुत सी बातें कहनी होंगी।[25]

राष्ट्रवाद के खिलाफ उनकी लगातार आलोचना के पीछे उनका स्पष्ट अभियोग था कि राष्ट्रवाद में फासीवाद अन्तर्निहित है। गांधीजी के राष्ट्रवाद और धर्म के बारे में उनकी यही समझ थी। उनका मानना था कि जबतक इन विचारधाराओं के खिलाफ अन्त तक लड़ाई नहीं चलाई जायेगी, भारत में

जनतंत्र का भविष्य सुरक्षित नहीं हो सकता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय उन्होंने फासीवाद विरोधी मोर्चा की पुरजोर वकालत करते हुए कांग्रेस की इस बात के लिये आलोचना की कि वह ब्रिटेन के मुश्किलों का फायदा उठाना चाहती है। राय एक बार फिर गांधी को समझने में भूल कर गये, लेकिन यह दूसरा मामला है।

आश्चर्य नहीं कि राय की रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी भारतीय राजनीति में थोड़ा भी आगे नहीं बढ़ सकी। उनकी असफलता भी उतनी ही बड़ी साबित हुई। ऐसा मालूम पड़ता था कि उनका राजनैतिक इतिहास, उनके दार्शनिक यात्रा की तैयारी थी। अपने ऐश्वर्यशाली राजनैतिक जीवन के इस निस्तेज अंत से उन्हें थोड़ा भी पाश्चाताप नहीं था। वे राजनीति से मुक्त होना चाहते थे। अपनी कष्ट साध्य जिन्दगी एवं स्व विश्लेषण के दौरान उन्होंने अपने सहयोगियों से कहा (जो उनकी राजनीति के प्रति शंकालू हो रहे थे) कि मैं राजनीति में बहुत बेचैनी महसूस करता हूँ। मैं पानी से बाहर रहने वाली मछली की तरह अनुभव करता हूँ। लेकिन अपने प्रारंभिक जीवन से ही इस झंझावात में शामिल हो जाने के बाद, इससे निकल नहीं पा रहा हूँ। अब समय आ रहा हैं, जब मैं ऐसा कर सकूँगा।[26]

शीघ्र ही वह समय आ गया। राजनीति से उन्होंने अवकाश ग्रहण कर लिया और नवमानवतावाद को परिभाषित करने में अपना पूरा ध्यान लगा दिया। नवमानवतावाद के दर्शन के मुताबिक दलीय राजनीति की असंगतता के चलते "रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी" 1948 में भंग कर दी गई। मानवतावादी आन्दोलन को निर्देशित करने के लिये नवमानवतावाद, एक नये नवजागरण की हुंकार है जो विश्व को वर्तमान संकट से मुक्त करेगा और एक अच्छी जिंदगी सामने आयेगी । 1954 में अपनी मृत्यु तक उन्होंने अपनी पूरी ऊर्जा नवमानवतावाद के प्रचार और उसे और आगे बढ़ाने में लगाया।

संदर्भः

1. हिस्ट्री ऑफ फ्रीडम मूवमेंट इन इंडिया ले. आर. सी. मजूमदार, खंड II, पृ. 167.
2. वही, खंड ए पृ. 423.
3. द प्रफेट ऑफ इंडियन नेशनलिज्म, ले. कर्ण सिंह, पृ. 82.
4. वही, पृ. 90.
5. वही, पृ. 89.
6. वही, पृ. 53.
7. वही, खंड I, पृ. 458.
8. एम. एन. राय मेमोयर्स, पृ. 98.
9. रिसजेन्स ऑफ इंडिया, शिशिर मित्रा, पृ. 367.
10. मेमोयर्स, पृ. 3.
11. वही, पृ. 7.
12. वही, पृ. 14.
13. वही, पृ. 27.
14. वही, पृ. 28.

15. वही, पृ. 29.
16. वही, पृ. 62.
17. वही, पृ. 59.
18. वही, पृ. 61.
19. वही, पृ. 71.
20. वही, पृ. 195.
21. वही, पृ. 212.
22. वही, पृ. 214.
23. द कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया एण्ड इट्स फार्मेशन एवोर्ड, मुजफ्फर अहमद, पृ. 87-88.
24. एम. एन. राय एण्ड रेडिकल ह्यूमनिज्म, ले. जी. पी. भट्टाचार्य, पृ. 2.
25. एम. एन. राय एण्ड कमिनटर्न, ले. जे. पी. हैथोयेक्स, पृ. 144.
26. सर्वोदय सोशल आर्डर, जयप्रकाश नारायण, पृ. 91.

महात्मा गांधी का खादी प्रेम और आर्थिक स्वावलंबनः एक अध्ययन

राकेश रंजन

शोधार्थी, इतिहास विभाग, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में महात्मा गांधी का आगमन बीसवीं सदी के दूसरे दशक में हुआ। राष्ट्रीय आंदोलन के शुरुआती दौर में गांधी ब्रिटिश शासन व्यवस्था के समर्थक रहे, जिस कारण उन्हें भर्ती करने वाला सार्जेण्ट भी कहा जाने लगा, परन्तु अंग्रेजों के विश्वासघाती नीति के कारण अंग्रेजों के समर्थक गांधी अंग्रेज विरोधी बन गये। जिसका परिणाम यह हुआ कि लंबे समय से चला आ रहा स्वतंत्रता आंदोलन को नई दिशा और दशा प्राप्त हुई जिसने ब्रिटिश उपनिवेशवाद को खत्म करने में निर्णायक भूमिका निभायी।

गांधी ने हिन्द स्वराज में लिखा है कि भारत के लोग अपनी गुलामी के लिए स्वयं जिम्मेवार है। वे पूंजीवाद और उससे जुड़े कानूनी एवं राजनीतिक ढाँचे को अपना लिये हैं जिसके कारण अंग्रेजों ने भारत को नहीं जीता बल्कि हमने उसे दे दिया।[1] गांधी की यह सोच रही कि भारत के लोगों को भोगवादी प्रवृत्ति से बचना चाहिए और ग्रामीण अर्थव्यवस्था की ओर लौट जाना चाहिए, क्योंकि जब तक भारत कृषि एवं कुटीर उद्योग के क्षेत्र में मजबूत रहा विश्व बाजार में अपना दब-दबा बनाये रखने में सफल रहा। खासकर यूरोप के बाजारों में भारतीय सूती वस्त्र छाये रहे। लेकिन औद्योगिक क्रांति ने स्थिति पलट दी और भारत का वस्त्र-निर्यात घट गया और आयात बढ़ गया। भारत अब इंग्लैण्ड के मिलों में उत्पादित वस्तुओं का आदर्श बाजार बन गया। गांधी का यह मानना था कि राष्ट्रीय आंदोलन को जब तक जन साधारण के बीच नहीं पहुंचाया जायेगा, तब तक सफलता नहीं प्राप्त होगी। यह तभी संभव है जब जन-सामान्य खासकर ग्रामीण लोगों में आत्मबल और आत्मसम्मान पैदा किया जाये। इसके लिए आवश्यक है कि लोगों को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर किया जाये और यह तभी संभव है जब भारत अपने पारस्परिक अर्थव्यवस्था को अपनाये। तब जाकर लोगों में राजनीतिक चेतना का भी निर्माण होगा।[2]

असहयोग आंदोलन के हिंसात्मक रूप में समापन के कारण गांधी ने लोगों में अहिंसक आंदोलन एवं विरोध के लिए प्रेरित करने के उद्देश्य से रचनात्मक कार्य पर जोर दिया। रचनात्मक कार्य को उन्होंने आर्थिक आत्मनिर्भरता से भी जोड़ दिया। इसी का एक पहलू खादी आंदोलन था। खादी उनके अनुसार एक वस्त्र नहीं बल्कि एक विचार था जो हजारों बीमारियों का एक इलाज था जिसके पालन से देश को न केवल राजनीतिक बल्कि आर्थिक स्वावलंबन भी प्राप्त हो सकता था। गांधी ने लिखा है कि यदि भारत को अपने गौरवशाली अतीत को प्राप्त करना है तो उसे चरखा को अपनाना होगा।[3] भारत कृषि प्रधान राष्ट्र होते हुए भी यहाँ के किसानों को अपने खेतों में छः महीने से ज्यादा काम नहीं मिल पाता है, भूखमरी, अकाल आदि का सामना करना पड़ता है। यदि ये लोग अपने घरों में छोटे-मोटे काम करें तो इनकी कठिनाई काफी कम हो सकती है। यह काम घरों में चरखा चलाना और कपड़ा तैयार करने जैसा काम हो सकता है। इससे अच्छा जीविकोपार्जन का दूसरा साधन नहीं

हो सकता है। इससे उनमें आत्मनिर्भरता का भाव उत्पन्न होगा और वे सूदखोरों एवं महाजनों के चंगुल से भी मुक्त हो सकते हैं। उन्हें दूसरों के ऊपर आश्रित रहने के लिए मजबूर नहीं होना पड़ेगा।[4]

गांधी ने भारत की स्वतंत्रता को केवल विदेशी सत्ता से पूर्ण मुक्ति ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण आर्थिक आत्मनिर्भरता से जोड़कर देखा अर्थात् एक ओर राजनीतिक स्वतंत्रता तो दूसरी तरफ आर्थिक स्वतंत्रता की प्राप्ति। इसके दो और पहलू हैं जिसमें एक नैतिक आदर्श और सामाजिक समरसता है तो दूसरा धर्म-धर्म अपने ऊंचे से ऊंचे अर्थ में। इसमें सभी सम्प्रदाय आ जाते हैं। इन सबके ऊपर जो धर्म है वह सत्य है।

अंग्रेजी व्यापार नीति पर प्रहार करते हुए गांधी ने कहा कि हिन्दुस्तान इतना दरिद्र कैसे हो गया, यह बात समझ लेने की है। भारतीय उद्योगों को ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने नष्ट किया और भारतीयों को जीवन-यापन करने की दूसरी सबसे बड़ी जरूरत की चीज के लिए लंकाशायर का मोहताज बना दिया। जिसने बेकार लोगों की एक बड़ी फौज खड़ी कर दी। धुनाई, कताई, बुनाईस के साथ-साथ एक हद तक गांवों के अन्य सभी उद्योग खत्म हो गये। वर्षों की लगातार लंबी बेकारी ने लोगों को आलसी बना दिया जो सबसे बड़े दु:ख की बात है। इस प्रकार हमारी दरिद्रता का कारण विदेशी राज्य तो है ही, परन्तु हम मध्यम वर्ग के लोग खुद उससे भी अधिक जिम्मेदार है। हमने ही अपने थोड़े से लाभ के लिए देश की आर्थिक स्वतंत्रता को विदेशियों के हाथों में बेचा है। इसलिए यदि हम अपनी इस भूल को समझ लें और चरखे से निर्मित खादी का संदेश गांवों में ले जाये तथा लोगों को अपना आलस्य दूर करके चरखा पुन: ग्रहण करने के लिए तैयार करा लें तो बहुत हद तक उनकी हालत सुधर सकती है। परन्तु अगर हम यह नहीं कर सके तो लोगों में उद्योगशीलता नहीं आयेगी और आलस्य ही कायम रहेगा। परिणामस्वरूप आशा का स्थान निराशा लेगी और परिणाम महाभयंकर होगा।[5]

खादी को वैचारिक और भावनात्मक पृष्ठभूमि पर दृढ़ करने के साथ-साथ उसको समाज जल्दी और आसानी से ग्रहण कर सके तथा आर्थिक दृष्टि से वह महंगी न पड़े, इस दिशा में गांधी ने पूरा ध्यान दिया। चरखा हल्का तथा कताई का काम तेजी से हो इस दिशा में कई प्रयोग हुए। चरखा हाथ के बजाये पांव से चलाया जा सके, सरलता से कहीं भी ले जाया जा सके और घर पर बच्चों को तकुआ लगे नहीं, इसके लिए 'यरवदा पेटी-चक्र' का निर्माण हुआ। यह गांधी जी का आविष्कार था। इसका एक छोटा रूप भी तैयार हुआ जो वजन, आकार और देखने में बड़ी किताब के जैसा था जिसका नाम रखा गया 'सुदर्शन'। चरखा यदि गांवों में पहुंच सके तो कपड़ा उद्योग में क्रांति हो सकती है और गांव अपने कपड़े के बारे में स्वावलंबी बन सकते हैं, ऐसा गांधी का विचार था।

खादी के लिए कच्चे माल की प्राप्ति के लिए उन्होंने ग्रामवासियों को इसमें सहयोग के लिए प्रेरित किया। उन्होंने कहा कि जिस किसी परिवार के पास जमीन का टुकड़ा हो वह कम से कम घर के उपयोग के लिए कपास उगा सकता है। बिहार में किसानों को अपनी 3/20 खेती के योग्य जमीन में नील उगाने के लिए कानूनन मजबूर किया जाता था। यह विदेशी निलहों के हित में होता था। तो फिर हम राष्ट्र के लिए स्वेच्छापूर्वक अपनी जमीन के एक निश्चित भाग में कपास क्यों नहीं उगा सकते? इस उत्पादित कपास से सारा राष्ट्र एक साथ कताई की प्रक्रिया में भाग ले तो एकता और शिक्षा तथा आर्थिक आत्मनिर्भरता का विकास होगा। साथ-साथ श्रम करने से गरीब-अमीर को बराबर करने वाला जो परिणाम होगा, वह समाजवाद का प्रमाण होगा। राष्ट्रव्यापी कताई की इस

योजना में औसत स्त्री या पुरुष इस काम के लिए एक घंटा रोज से ज्यादा वक्त देंगे तो खादी निर्माण का लक्ष्य सरलता से प्राप्त किया जा सकेगा।[6]

जब हम खादी का पुनरुद्धार कर लेंगे तो और सब उद्योगों का उद्धार अपने आप हो जायेगा। चरखे को केन्द्र बनाकर ऐसी व्यवस्था करनी होगी कि उसके चारों ओर दूसरे उद्योग स्वयं पनपते रहे।[7] चरखा प्रत्येक घर के लिए एक उपयोगी और अनिवार्य वस्तु है। यह राष्ट्र की खुशहाली और आजादी का निशान है। खादी युद्ध का नहीं, बल्कि आर्थिक संतुष्टि एवं व्यावसायिक शांति का संदेश है। खादी सदा ही गांवों की सम्पन्नता का बढ़िया साधन रहा है। इसके जरिये गरीबों में सच्ची शक्ति पैदा होगी, जिससे स्वराज्य अपने-आप आ जायेगा।[8] खादी कृषि की सहायक एवं सहयोगी पेशा है। असंख्य बुनकरों के लिए तो यह प्राण के समान है। जब तक हम गांवों से बेकारी को जड़ से समाप्त नहीं देते तब तक लाखों लोग बेकार होंगे, तब वहाँ लड़ाई-झगड़े और खून-खराबे होते ही रहेंगे। तथाकथित समाजवाद का एकमात्र विकल्प चरखा है। पश्चिम के समाजवाद का आधार यांत्रिक उद्योगीकरण है। भारत जिस समाजवाद को हजम कर सकता है वह खादी से ही आ सकता है। इसी कारण 1919 के कांग्रेस के अमृतसर अधिवेशन में पहली बार खादी से संबंधित प्रस्ताव पारित किया गया। 1920 के नागपुर सम्मेलन में खादी को अपनाने पर जोर दिया गया। 1921 में विजयवाड़ा में तिलक स्वराज्य कोष जमा करने का निर्णय लिया गया और देशभर में बीस लाख चरखा चलाने का संकल्प लिया गया।[9] सदस्यता शुल्क जो चवन्नी थी, के बदले 2000 गज अपने हाथ का कता सूत निर्धारित किया गया।

1924 में गांधी जी बेलगांव कांग्रेस के अध्यक्ष बनाये गये। उन्होंने खादी और चरखों को रचनात्मक कार्य के रूप में कांग्रेस के जरिये जन-जन तक पहुंचाने के लिए कांग्रेस के संविधान में भी संशोधन करवाया। तत्कालीन समय में कांग्रेस की सदस्यता शुल्क चवन्नी निर्धारित थी जिसे बदलकर सदस्यों को अपने हाथों से चरखे द्वारा 2000 गज सूत कातना निर्धारित करवाया गया।

गांधी द्वारा खादी को बढ़ावा देने के लिए ऑल इंडिया स्पिनर्स एसोशियेशन की स्थापना 1925 में की गयी। गांधी इसके अध्यक्ष तथा जमनालाल बजाज इसके कोषाध्यक्ष बने। जवाहरलाल नेहरू एवं शंकरलाल बैंकर को इसका सचिव नियुक्त किया गया। इसके अन्य सदस्यों में प्रमुख थे, मौलाना शौकत अली, राजेन्द्र प्रसाद, मगनलाल इत्यादि। खादी को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से जगह-जगह खादी भंडारों को खोलने का काम शुरु हुआ। ये भंडार उत्पादित वस्त्रों को जमा करने के केन्द्र के साथ-साथ सूत काटने वाली महिलाओं के प्रशिक्षण का भी केन्द्र था।

महात्मा गांधी के द्वारा खादी आंदोलन का व्यापक असर बिहार प्रान्त पर पड़ रहा था। जगह-जगह खादी वस्त्रों का उत्पादन होने लगा और बिक्री भी आशानुकूल हो रही थी। राजेन्द्र प्रसाद को ऑल इंडिया स्पिनर्स एसाशिएशन की बिहार शाखा का अध्यक्ष नियुक्त किया गया। बिहार शाखा का मुख्यालय आरंभ में पटना था, बाद में इसे मुजफ्फरपुर ले जाया गया परन्तु कुछ समय के बाद मुजफ्फरपुर से भी स्थानांतरित कर मधुबनी ले जाया गया। तत्कालीन दरभंगा जिला के मधुबनी अनुमंडल में खादी उत्पादन काफी अच्छे ढंग से हो रही थी जो विशेष प्रकार के खादी वस्त्र 'कोकही खादी' के लिए प्रसिद्ध था।

भारत में बीसवीं सदी के दूसरे दशक का उत्तरार्द्ध समग्र राजनीतिक वातावरण में क्रांतिकारी गतिविधियों के कारण उत्तेजनापूर्ण बना हुआ था, सांप्रदायिकता के कारण दंगा और खून-खराबा हो

रहा था। ऐसे समय में बिहार में 1927 में बिहार के दौरे पर गांधी जी आये। वे प्रांत में चल रहे खादी आंदोलन से अत्यंत प्रभावित हुए। महादेव देसाई को उन्होंने एक पत्र में लिखा कि यदि उन्हें आधुनिक युग के स्वर्ग का दर्शन करना है तो वे दरभंगा जिला के लौहा एवं कपसिया गांवों का दर्शन करें। उन गांवों में हिन्दू और मुस्लिम महिलायें साथ-साथ चरखा चला रही है जो एक मधुर संगीत को जन्म दे रही है।[10]

गांधी के खादी प्रेम और इनके प्रयास ने भारत में खादी को बढ़ावा दिया। 1930 के दशक में बिहार में खादी आंदोलन ने अपार लोकप्रियता हासिल की। इसमें महिलाओं की भागीदारी भी अधिक रही। सरला देवी, सावित्री देवी, विन्ध्यवासिनी देवी, प्रियंवदा देवी जैसी महिलाओं ने इस आंदोलन को सफल बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। खादी आंदोलन ने गांवों में जनचेतना लगाने का काम किया। हर गांव एवं हर घर खादी बुनाई का केन्द्र बन गया। यह राष्ट्रीय आंदोलन का हिस्सा बन गया।

15 अगस्त 1947 को भारत आजाद हुआ लेकिन गांधी ने भारत को पूर्ण आजाद नहीं माना। उन्होंने तो कहा कि "भारत राजनीतिक रूप से आजाद तो हुआ है, परन्तु आर्थिक आजादी शेष है।" उन्होंने कहा कि कांग्रेस का काम पूर्ण हो चुका है, उसे अब भंग कर दिया जाना चाहिए और उसके स्थान पर सेवा दल को लाना चाहिए। निश्चित रूप से आर्थिक स्वावलंबन ने सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना को पैदा किया और सामान्य जन अपना सर्वस्व देश के लिए न्यौछावर करने के लिए तैयार हो गये। खादी आंदोलन हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रतीक भी बनकर उभरा। स्त्री-पुरुष, छुआछूत एवं जात-पात, विधवा विवाह एवं पर्दा प्रथा के खिलाफ भी इस आंदोलन ने स्पष्ट विचार व्यक्त किया।

इस प्रकार देखा जाये तो खादी ने जहाँ आर्थिक स्वतंत्रत की नींव रखी, वहीं स्वतंत्रता आंदोलन में समाज के सभी वर्गों को जोड़कर स्वतंत्रता आंदोलन को गति प्रदान की। साथ ही सामाजिक कुप्रथाओं पर भी प्रहार किया।

संदर्भ-सूची

1. एम. के. गांधी, हिन्द स्वराज्य एंड अंडर राईटिंग्स, पृ. 39
2. श्याम मोहन, एकोनोमिक्स ऑफ अल्टरनेटिव्स खादी एण्ड विपेज इण्डस्ट्रीज इन बिहार, पटना, 2000, पृ. 210
3. हरिजन, 19 दिसम्बर 1931, पृ. 16
4. दिगम्बर झा, बिहार का खादी आंदोलन और उसका विकास, मुजफ्फरपुर, 1971, पृ. 22
5. यंग इंडिया, 21 मई 1925
6. रचनात्मक कार्यक्रम, 1945, पृ. 11-14
7. यंग इंडिया, 21 मई 1925
8. स्वराज थ्रू चरखा, कनू गांधी, संकलित, 1945, पृ. 8
9. यंग इंडिया, 14 फरवरी, 1929
10. वही।

आर्य समाज के दृष्टि में दलित समस्या व समाधान के प्रयास

अमित कुमार जयसवाल

शोधार्थी, इतिहास विभाग, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

भारतीय पुनर्जागरण काल के प्रसिद्ध संस्थाओं में आर्य समाज का विशिष्ट स्थान है। अपने समय में आर्य समाज ने हजारों लोगों को प्रभावित किया और यह प्रभाव आज भी अक्षुण्ण बना हुआ है। आर्य समाज ने करोड़ों भारतवासियों के मन पर छाए अज्ञान रूपी अंधकार को हटाने और अकर्मण्य पुरोहित वर्ग द्वारा सदियों के दौरान खड़े किए गए अंधविश्वास, मिथ्यावाद, धर्मान्धता को समाप्त करने के लिए सतत् प्रयत्न किया। आर्य समाज के प्राण थे स्वामी दयानन्द सरस्वती।

दयानन्द सरस्वती विशुद्ध राष्ट्रवादी थे। उनके सम्पूर्ण कार्यक्रम का एकमात्र लक्ष्य और ध्येय राष्ट्र के जीवन में सर्वतोमुखी प्रगति और विकास लाना था। किन्तु वह अच्छी तरह जानते थे कि दृष्टिकोण में क्रांतिकारी परिवर्तन लाए बिना वास्तविक परिवर्तन ला पाना असम्भव है। अत: उनके सामने और आर्य समाज के सामने जो कठिन कार्य था, वह था सामाजिक नवनिर्माण की समस्या से निपटाने का। इसके लिए सबसे पहले देश की मौजूदा स्थिति का अध्ययन करना आवश्यक था। ब्रिटिश शासन के प्रभाव से जिन नई शक्तियों का जन्म हुआ, उनको उनके गुणावगुण के आधार पर मूल्यांकन करने के बाद आत्मसात करना था या उनको अस्वीकार करना था। जिन परिस्थितियों में अब भारतीय समाज अपने को पा रहा था इसका विवेचनात्मक अध्ययन शिक्षित भारतीयों ने करना शुरू किया। उनके सामने जो समस्या उपस्थित थी, वह नए और पुराने के बीच तालमेल स्थापित करने और पूर्व और पश्चिम का ऐसा मेल स्थापित करने की थी जिससे कि भारत नवजीवन प्राप्त कर सके। इस समस्या से निपटने के लिए स्वामीजी और आर्य समाज ने सामाजिक बुराइयों के ऊपर सीधा प्रहार किया।

अठारहवीं शताब्दी में भारत में सभी क्षेत्रों में अवनति हुई थी। प्राचीन काल में भारत विश्व का गुरु रहा था और यहाँ की सभ्यता और संस्कृति बहुत ऊँची थी। श्रीमती मैनिंग के कथनानुसार हिन्दुओं का मानसिक और बौद्धिक विस्तार अपनी चरम सीमा तक हो चुका था। वीरता, सम्मान और सत्यनिष्ठा जैसे चारित्रिक गुण उनमें कूट-कूट कर भरे हुए थे। कालांतर में उनका पतन होने लगा और वे उन ऊँचे आदर्शों को भूलने लगे जो उन्होंने दुनिया को सिखाए थे। उन्होंने अपनी समृद्ध और अमूल्य धरोहर लुटानी शुरू कर दी और शरीर तथा बुद्धिबल में कमजोर हो गए। आर्यावर्त आपसी फूट का शिकार हो गया। वहीं भारतवासी, जो आध्यात्मिक गौरव और भौतिक समृद्धि के शिखर पर पहुँच गए थे, बुरी तरह विभाजित होकर दुर्बल और अज्ञानी बन गए। विदेशी आक्रमणों से अपनी, अपने धर्मग्रंथों, अपनी संस्कृति, अपने धर्म और अपनी राष्ट्रीय एकता की रक्षा करने में असमर्थ हो गए।

ब्राह्मणों ने लोगों के जीवन को पूरी तरह अपने शिकंजे में जकड़ लिया था। स्वतंत्र विचार और कार्य की सारी शक्ति समाप्त हो गई थी। जातिप्रथा के बढ़ते हुए भयानक जाल में फंसकर, जिसमें

अन्तर्जातीय विवाह, अंतर्भोज तथा अन्य मामलों में अत्यंत कठोर निषेधों का प्रवेश हो गया था, व्यक्तियों और समाज की आशा और आकांक्षाएँ दम तोड़ रही थीं। हिन्दू समाज में बाल विवाह का प्रचलन आम हो गया। अपने पतियों के युवावस्था प्राप्त करने से पहले ही हजारों लड़कियाँ विधवा हो जाती थीं। ऊँची जातियों की ये विधवाएँ पुनर्विवाह नहीं कर सकती थीं और उनकी दशा अत्यंत दयनीय थी।

हिन्दुओं और मुसलमानों के अनेक वर्गों में बहुपत्नी प्रथा थी। समाज में स्त्रियों की स्थिति बड़ी खराब थी। हिन्दुओं और मुसलमानों में पर्दे की प्रथा थी। ऊँची जाति की स्त्रियाँ घरों से बाहर मुँह खोलकर नहीं निकल सकती थीं। ऐसी ही खराब दशा नीची समझी जाने वाली जातियों की थी। शूद्र को अछूत समझा जाता था और उनकी छाया मात्र के स्पर्श से ही ब्राह्मण अपवित्र हो जाते थे। उन्हें अलग बस्तियों में रहना पड़ता था। वे न स्कूल जा सकते थे, न गाँव के कुएँ से पानी भर सकते थे और न ऊँची जाति वालों के साथ मिल-बैठ सकते थे। इन सब बुराइयों के साथ ही, दूसरी ओर, अंग्रेजी शिक्षा भारतीयों के दिमाग में जहर घोल रही थी। इसका उद्देश्य लोगों में धार्मिकता की भावना का नाश करना और हिन्दू धर्म की जड़ें खोदना था। इन सब चीजों को देखते हुए दयानन्द और उनके आर्य समाज ने भारतीय समाज की समस्त बुराइयों पर आक्रमण किया।

दयानन्द ने जब आंखें खोली थीं, उन्हें देश की घोर दुर्दशा देखने को मिली थी। चारों ओर अंधविश्वास और अज्ञान का बोलबाला था, पूर्वाग्रहों और स्वार्थों के कारण समाज फूट और वैमनस्य का शिकार था। इस तरह खंडों में विभाजित समाज में सामाजिक बुराइयों का नंगा नाच हो रहा था। अतः उन्होंने यह सब बदल कर एक बिल्कुल नए समाज का निर्माण करने का संकल्प किया।

दयानन्द ने जाति प्रथा की ओर एक नए दृष्टिकोण से देखा। उन्होंने इस भारत का सबसे बड़ा अभिशाप माना, 'पुरूष सूक्त' की गलत व्याख्या पर आधारित यह जाति प्रथा एक ऐसी प्रथा थी, जिसकी उपयोगिता बहुत पहले ही समाप्त हो चुकी थी। यह ऐसी शक्ति थी जो भारतीय समाज को नष्ट करके और कैंसर की भांति राष्ट्र के खून में जहर घोलने का काम कर रही थी। उन्हें यह देख बड़ी व्यथा हुई कि अकेली यही एक प्रथा भारत को राष्ट्र बनने से रोकने का सबसे बड़ा कारण है। ऊँच-नीच के भेदभाव ने भारत के करोड़ों स्त्री-पुरूषों को ऐसी स्थिति में डाल दिया था, जिनके स्पर्शमात्र को दूषणकारी माना जाता था। इसमें क्या आश्चर्य था कि हजारों लोगों ने मनुष्यों जैसा व्यवहार पाने के लिए अपने पूर्वजों के धर्म का त्याग कर दिया था। दयानन्द ने जाति प्रथा के विरूद्ध अपनी शक्तिशाली आवाज उठाए हुए उसे वेदों की शिक्षा के विरूद्ध बताया। उन्होंने कहा कि प्रत्येक व्यक्ति को मनुष्य जैसा व्यवहार पाने, समान समझे जाने और समान अवसर पाने का अधिकार है। शरीर में सिर, भुजा, जांघ और पैर के समान ही समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चारों वर्णों में बाँटने की जो सामाजिक व्यवस्था की गई थी उसने एक समय में समाज को शक्ति प्रदान की थी, बलवान बनाया था। लेकिन अब उसका स्थान इस घृणित जाति प्रथा ने ले लिया था जो वस्तुतः कोई सही सामाजिक प्रणाली थी ही नहीं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्राचीन आर्य समाज में एक वर्ण व्यवस्था थी जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आर्य समाज के परस्पर जुड़े हुए और एक दूसरे पर आश्रित अंग थे तथा पूरे समाज के कल्याण में अपना कल्याण मानते थे। दयानन्द ने देखा कि प्रचलित जाति प्रथा इसी वर्ण व्यवस्था का पतित और भ्रष्ट स्वरूप था। प्राचीन

वर्ण व्यवस्था का आधार व्यक्ति के गुण, कर्म और स्वभाव से होता था जबकि वर्तमान जाति प्रथा जन्म पर आधारित थी। पहले कोई व्यक्ति ब्राह्मण होता था तो इसलिए कि योग्यता और प्रवृत्ति के बल पर वह समाज का धार्मिक नेता होने की योग्यता रखता था। आज एक व्यक्ति केवल ब्राह्मण कुल में जन्म लेने के कारण ही ब्राह्मण होता है, भले ही वह बिल्कुल निरक्षर, मूर्ख और दुराचारी क्यों न हो। स्वामीजी ने जब इस जाति प्रथा की दूषित प्रकृति की निंदा की तो कट्टरपंथी हिन्दू बहुत नाराज हुए। ब्राह्मणों और क्षत्रियों की संतान होने के कारण समाज की कोई उपयोगी सेवा किए बिना वे अपने पूर्वजों की प्रतिष्ठा और सम्मान भोग रहे थे। मशीन की कमानी जंग लग कर टूट-फूट गई थी, परंतु फिर भी वह मशीन में लगी हुई उनकी गति को अवरूद्ध किए हुए थी। स्वामी जी ने कहा, "इस प्रथा को समाप्त करना होगा।

जिस व्यक्ति में ब्राह्मण की योग्यता न हो उसे ब्राह्मण की प्रतिष्ठा और सम्मान से वंचित होकर अपने स्तर पर रख दिया जाना चाहिए।" उन्होंने अपने कथन के समर्थन में वेदों और शास्त्रों से प्रमाण प्रस्तुत किए। उन्होंने वर्णों को व्यर्थ नहीं कहा क्योंकि प्रत्येक समाज को वर्गीकरण की आवश्यकता पड़ती है और वर्ण व्यवस्था सर्वोत्तम है। किन्तु इसका आधार जन्म नहीं होना चाहिए। ब्राह्मण का पुत्र क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र हो सकता है। इसी प्रकार शूद्र का पुत्र भी ब्राह्मण हो सकता है। जन्म से ब्राह्मण न होते हुए भी ब्राह्मण पद प्राप्त करने वाले व्यक्तियों के अनेक उदाहरण प्राचीन भारत में मिलते हैं। सत्यकाम जाबालि एक दासी पुत्र थे। कावश, ऐतरेय एक शूद्र के पुत्र थे किन्तु उन्होंने ब्राह्मण और ऐतरेय उपनिषद की रचना की। वेदांत दर्शन के प्रवक्ता और महाभारत के रचयिता व्यासजी एक मछुआरिन के बेटे थे। वशिष्ठ ऋषि एक वेश्या के बेटे थे। पाराशर ऋषि एक चांडाल स्त्री के पुत्र थे। विश्वामित्र एक क्षत्रिय की संतान थे। अरिष्टसेन, सिंधुद्वीप, देवापि और कपिल ये सभी जन्म से क्षत्रिय थे। अतः दयानन्द ने शिक्षा दी कि समाज की रचना रंग या धर्म के आधार पर नहीं बल्कि गुणों के आधार पर की जानी चाहिए।

इस विचार का प्रचार करने और जाति प्रथा का उन्मूलन करने के लिए उन्होंने सारे देश का दौरा किया और धार्मिक सभाओं तथा विद्वानों की गोष्ठियों में भाषण दिए, कई जगह शास्त्रार्थ किए और वर्णाश्रम धर्म के समर्थकों के तर्कों का खंडन करते हुए जाति प्रथा की असमानताओं और अन्यायों का भंडाफोड़ किया। उनकी बातों का लोगों पर बहुत प्रभाव पड़ा। शास्त्रों के प्रमाणों पर आधारित उनकी बातों को अनसुना नहीं किया जा सकता था। अन्य कोई भी व्यक्ति शायद धर्मांध कट्टरपंथियों के आगे टिक नहीं पाता और वे उनकी बातें हंसी-हंसी में उड़ा देते, लेकिन दयानन्द वेदों के ऐसे विद्वान थे जिन्होंने उन्हीं के अस्त्र से उनको परास्त किया था। यह विद्वान वर्णाश्रम को आवश्यक मानता था किन्तु वर्गीकरण के आधार को अमान्य घोषित करता था।

प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान डॉ॰ काशी प्रसाद जायसवाल के शब्दों में "दयानन्द में बुद्ध जैसी मानवीय करूणा थी और शंकराचार्य की सी संरक्षण-प्रवृत्ति।" बुद्ध ने जन्म और जाति की असमानता की मिथ्या धारणाओं पर आधारित समूची व्यवस्था को अमान्य करार दिया था और क्रांति का आह्वान किया था। इसके विपरीत, दयानन्द ने पारम्परिक व्यापक आधार वाली वैदिक संस्कृति पर बल दिया, और ऐसा करने में वह शंकर की सीमाओं में भी नहीं बंधे थे। उससे भी ऊपर उठकर उन्होंने जाति के सिद्धांत को मिथ्या, वेदों के विरूद्ध और अभारतीय बताया। तर्क और शास्त्र में शंकर की तरह

पारंगत और दुर्द्धर्ष, वेदों के देशमान्य विद्वान और नि:स्वार्थ परोपकार की भावना से काम करने वाले दयानन्द के अलावा यदि किसी और व्यक्ति ने मनु और 'पुरूष सूक्त' का विरोध करने वाली ऐसी बातें कही होतीं तो भारतीय समाज उसे सहज स्वीकार नहीं करता। दयानन्द तो अतिमानव सिद्ध हुए। उन्होंने रहस्यवाद, गुरुओं, अवतारवादियों, देवी-देवताओं, पत्थरों की पूजा करने वालों तथा तीर्थ स्थलों की यात्रा करने वालों को अपने अकाट्य तर्कों से पराभूत कर दिया।

उन्होंने सड़क चलते साधारण मनुष्य को समाज में उसका गौरवपूर्ण स्थान दिलाया और एक निराधार ईश्वर की उपासना का संदेश दिया। उनका ईश्वर ऐसा स्वामी था जो अपने भक्तों को असहाय दास नहीं बनाता। जिस प्रकार यूरोप में मार्टिन लूथर ने ईसाई धर्म को पोप की निरंकुश सत्ता से मुक्ति दिलाई थी, उसी प्रकार दयानन्द ने हिंदुओं की आत्मा को उन्मुक्त किया। यह मुक्ति उन्होंने धर्म ग्रंथों के अंदर संकलित शिक्षाओं का सही ज्ञान करा कर दी। दयानन्द ने जाति प्रथा की घोर निदां करके और सामाजिक न्याय के द्वारा हिन्दु समाज को नवजीवन प्रदान करके जितनी बड़ी सेवा की है उसकी जितनी प्रशंसा की जाए, कम है। दयानन्द सरस्वती के पचास वर्ष बाद काठियावाड़ के ही एक अन्य सुपुत्र, महात्मा गाँधी ने उसी सिद्धांत के लिए आमरण अनशन किया जिसे दयानन्द ने प्रतिपादित किया था।

महात्मा हंसराज, लाला लाजपत राय, स्वामी श्रद्धानंद जैसे महारथियों और हजारों आर्यसमाजी कार्यकर्त्ताओं ने पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा अन्य प्रांतों में दयानन्द सरस्वती के संदेश को न केवल जीवित रखा बल्कि भारत के कोने-कोने में उसे फैलाया। महात्मा हंसराज लाहौर में डी.ए.वी. कॉलेज के प्रिंसिपल थे और एक जातिहीन समाज की स्थापना के लिए प्रयत्नशील थे। लाहौर के डी.ए.वी. कॉलेज तथा स्कूल ने उन्हें एक उर्वर भूमि प्रदान की जिसमें उन्होंने सामाजिक पुनर्रचना के बीज बोए। कॉलेज के छात्रालयों में सबके लिए रसोई में भोजन की व्यवस्था थी और अलग-अलग जातियों के 'मेस' चलाने की अनुमति नहीं थी। उनके अंदर एक-दूसरे की जाति जानने की उत्सुकता ही नहीं होती थी। वर्षों एक साथ रहने, साथ पढ़ने और साथ खाने वाले ये छात्र अपने सहपाठी की जाति से अनभिज्ञ ही रहते थे। यह एक क्रांतिकारी परिवर्तन था। हंसराज ने अपने कार्यकर्त्ता मालाबार भी भेजे जहाँ उन्होंने स्थानीय जाति प्रथा को जोरदार चुनौती दी। इन कार्यकर्त्ताओं ने नीची समझी जाने वाली जातियों के लोगों को अपने अधिकारों के लिए अदालतों में मुकदमा लड़ने में मदद की और उनमें यह जागृति पैदा की कि उन्हें भी सार्वजनिक सड़कों का प्रयोग करने का उतना ही अधिकार है जितना की ब्राह्मणों को है। हंसराज ने श्रम की गरिमा को प्रतिष्ठा दिलाई। हंसराज जी के बहनोई के पुत्र लाला गुरदास चड्डा ने 1903 में महात्मा हंसराज की सलाह पर चड्डा लांड्री की स्थापना की, जहाँ वस्त्रों की धुलाई होती थी। उन्हीं की सलाह पर लाला धनीराम ने जूतों की दुकन खोली। लाला लाजपत राय ने, जो समाज के एक सक्रिय कार्यकर्ता थे, जाति प्रथा की जबर्दस्त आलोचना की। अपने एक लेख में उन्होंने लिखा : "इसमें कोई संदेह नहीं कि हिन्दू जाति प्रथा की कट्टरता व्यावहारिक और राजनीतिक, दोनों ही दृष्टियों से गलत है। व्यावहारिक दृष्टि से इसलिए कि लोगों में बुराइयों के विरूद्ध एक जूट होकर लड़ने की ताकत नहीं होती। राजनीतिक दृष्टि से इसलिए कि वे स्वतंत्रता प्राप्त नहीं कर सकते।"

दयानन्द सरस्वती ने समानता के सिद्धांत पर अछूतों का दर्जा ऊँचा उठाया। वह कहा करते थे कि शरीर और मन से स्वस्थ कोई भी शूद्र द्विज (ब्राह्मण) समझे जाने का अधिकारी है। अस्पृश्यता

की समस्या के प्रति यह दृष्टिकोण धर्म निरपेक्षता की दिशा में एक और कदम था। सूरजभान ने दयानन्द की व्यावहारिक ईमानदारी की चर्चा करते हुए लिखा है : "एक अछूत दयानन्द जी के लिए कढ़ी और भात लेकर आया था। स्वामी जी ने उसके इस प्रेमाहार को स्वीकार कर लिया। पास ही खड़े एक ब्राह्मण ने इस पर यह कहते हुए आपत्ति की कि आप इस आदमी द्वारा लाया गया भोजन खाकर अशुद्ध हो गए हैं। दयानन्द जी ने उत्तर दिया कि भोजन दो ही दशाओं में अशुद्ध होता है। पहला तब, जब वह किसी दूसरे को कष्ट पहुँचा कर प्राप्त किया गया हो, और दूसरे तब, जब उसमें गंदी चीजें मिला दी जाएँ। लेकिन यह मनुष्य तो श्रम से रोटी अर्जित करने वाला आदमी था। यह भोजन सर्वोत्तम है।" दयानन्द का विचार था कि भारत के दलितों का उद्धार करना उतना ही जरूरी है जितना कि जाति प्रथा की कठोरता को समाप्त करना। तभी भारत का निर्माण एक ठोस आधार पर किया जा सकता है। अस्पृश्यता का मुख्य कारण बुरा वातावरण, बुरी संगति और बुरी शिक्षा है और इसके फलस्वरूप चरित्र का ह्रास होता है।

राष्ट्रीय दृष्टिकोण से अस्पृश्यों की स्थिति सुधारने के लिए आर्य समाज ने अथक कार्य किया। आर्य समाज ने ईश्वर को पिता एवं मनुष्यों को उसकी संतान माना। स्त्री-पुरूष में समानता, मनुष्य-मनुष्य के बीच और राष्ट्रों के बीच न्यायपूर्ण आचरण का सिद्धांत रखा और कहा कि हर व्यक्ति को अपने कार्य, स्वभाव, गुण, योग्यता और प्रेम के आधार पर समान अवसर मिलना चाहिए। इन आदर्शों को प्राप्त करने के लिए स्वामी जी और समाज ने नीची जातियों के उत्थान-कार्य में बहुत दिलचस्पी ली। इसके लिए दो तरीके अपनाए गए - (1) जिन जातियों को यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार नहीं था उन्हें यह अधिकार प्रदान किया गया और (2) अस्पृश्य जातियों को स्पृश्य जातियों के समकक्ष लाकर उन्हें उच्चतर सामाजिक आदर्शों की शिक्षा दी जाने लगी जिसका उद्देश्य यह था कि अंततः वे अन्य हिन्दुओं के साथ बराबरी के स्तर पर आ सकें। इस कार्य के लिए होशियारपुर में 'दयानन्द दलितोद्धार मंडल' की स्थापना की गई।

दयानन्द के विचारों को उनके एक महान शिष्य, लाला लाजपत राय ने कार्य-रूप में आगे बढ़ाया। लालाजी ने दलित वर्गों के प्रश्न पर तीन दृष्टियों से विचार किया: (1) हिन्दू जाति के संदर्भ में; (2) अखिल भारतीय महत्व के प्रश्न के रूप में और (3) उसके मानवीय पक्ष को लेकर। उन्होंने कहा, "यह याद रखने की बात है कि राष्ट्रीय पतन के मूल में ये ही तत्व हैं। यदि हम राष्ट्रीय आत्म-गौरव प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें दलित वर्गों के अपने अभागे भाई-बहनों का बाहें फैलाकर अपनाना होगा और उनके अंदर मानव-गरिमा की भावना उत्पन्न करने में सहायक बनना होगा। जब तक हमारे देश में अछूत समझे जाने वाले लाखों लोग मौजूद हैं, तब तक हम अपने राष्ट्रीय मामलों में कोई वास्तविक प्रगति नहीं कर सकते। इस तरह की जाति के लिए उच्च स्तर की नैतिकता जरूरी है, और जिस समाज में कमजोर वर्गों के साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार किया जाता हो, वहां ऐसी उच्च नैतिकता नहीं हो सकती। मानसिक दासता से बुरी कोई दासता नहीं है और लोगों को गुलाम बनाए रखने से बड़ा और कोई पाप नहीं है। लोगों को गुलाम बनाना बुरी बात है, लेकिन ऐसी परिस्थितियाँ और दशाएँ उत्पन्न करना तो और भी बुरी बात है जिसमें फंस कर वे अपनी दासता के बंधनों को तोड़ने का प्रयास भी नहीं कर सकते।" उनका दृढ़ विश्वास था कि जब राष्ट्र का एक महत्वपूर्ण अंग ही सूख गया हो तब राष्ट्र सच्ची प्रगति नहीं कर सकता। अतः हिन्दू समाज के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि वह अछूतों को अपनाए और उनमें शिक्षा का प्रकाश फैलाए। उन्होंने कहा कि यदि

दलित वर्गों को मनुष्यों की भाँति जीने और उन्नति करने का अवसर दिया गया तो वे हिन्दू धर्म का त्याग नहीं करेंगे, किन्तु यदि मूढ़तावश हिन्दू समाज ऐसा करने में झिझकेगा तो वे ज्यादा दिन तक इस धर्म में नहीं रहेंगे।

इस तरह हम देखते हैं कि दयानन्द ने और उनके अनुयायियों ने दलित वर्गों के लिए बहुत बड़ी सेवा का काम किया है।

सहायक संदर्भ ग्रंथ :

1. रविन्द्र कुमार - आधुनिक भारत का सामाजिक इतिहास, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997
2. प्रकाशन विभाग- नई दिल्ली, आधुनिक भारत के निर्माता।
3. मानवेन्द्र नाथ राय - संक्रांति के दौर का भारत, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, 2005
4. सुमित सरकार - आधुनिक भारत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998
5. रजनी पाम दत्त - आज का भारत, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1940
6. अशोक नारायण - आधुनिक भारत की सामाजिक दशा, भगवती प्रकाशन, 1988

सिन्धु सभ्यता पर एक दृष्टि

अवध पटेल

शोध छात्र, इतिहास, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

इस सभ्यता के लिए साधारणत: तीन नामों का प्रयोग होता है–सिन्धु सभ्यता, सिन्धु घाटी की सभ्यता, और हड़प्पा सभ्यता। इनमें से प्रत्येक शब्द की एक पृष्ठभूमि है।

सिन्धु भारतवर्ष की एक नदी का नाम है जो हिमालय पर्वत से निकलकर पंजाब तथा सिन्धु प्रदेश होते हुए अरब सागर में गिरती है। सिन्धु सभ्यता लगभग 3250-2750 ई. पूर्व प्रागैतिहासिक संस्कृतियों के यतिकंचित अवशेष ही भारत भर में बिखरे मिले है; किन्तु प्रामाणिक और ठोस सामाग्री का एक बृहद भंडार पुरातत्व की खुदाई में सिन्धु नदी की उपत्यका में हड़प्पा (लाहौर और मुल्तान के बीच रावी की एक पुरानी धारा के तट पर बसा हुआ एक स्थान, जिसका प्राचीन वैदिक नाम संभवत: हरयूपिया था) एवं मोहनजोदड़ो (सिन्धी-मोया-जो-दड़ो) 'मरे हुओं की देरी या टील' जिला लरकाना, सिन्ध में पाया गया है। इस सामाग्री से यह विदित होता है कि किसी समय उस प्रदेश में जो अब की अपेक्षा अधिक हरा-भरा और जल सिंचित था, एक सर्वांग सभ्यता का विकास हुआ था जिसे सिन्धु सभ्यता का नाम दिया जा सकता है।

वस्तुत एक नई सभ्यता, जिसका स्वरूप नगरीय था, की खोज के साथ ही इसके उद्भव, प्रकृति एवं पतन के संदर्भ में एक व्यापक विवाद प्रारंभ हुआ। सितंबर 1924 ई. तक भारतीय इतिहास की मान्य तिथि 326 ई. पूर्व थी, तब भारत पर सिकंदर ने आक्रमण किया था। 24 सितंबर 1924 को जान मार्शल ने 'Illustratad London News' नामक पत्रिका में एक नई सभ्यता की खोज का दावा किया। हड़प्पा-सभ्यता के संदर्भ में आरंभिक प्रतिमान जॉन मार्शल द्वारा स्थापित किया गया। 1921 ई. में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग के निदेशक सर जॉन मार्शल के निर्देशन में राय बहादुर दयाराम सहनी द्वारा रावी के तट पर पश्चिमी पंजाब (पाकिस्तान) अधिकृत जगह पर हड़प्पा का अन्वेक्षण किया।

इस सभ्यता को सैधंव सभ्यता, प्रथम नगरीय सभ्यता या सिन्धु सभ्यता का नाम दिया गया। अत: इस सभ्यता को हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो की भी सभ्यता कह सकते हैं। हड़प्पा मोहनजोदड़ो से करीब 500 कि.मी. उत्तर स्थित है। इसी पर कई इतिहासकारों ने अपना मत दिया जैसे–आर. एस. शर्मा ने कहा–"No other Cultural Zone is the third and second millennium B.C. in the world was as large as the Harappa Zone"

सिन्धु सभ्यता का फैलाव मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में मिली हुई प्राचीन वस्तुए एक ऐसी समान और व्यापक संस्कृति का पता लगाती है, जिसकी जड़ें सिन्धु और पंजाब में दूर-दूर तक फैली हुई थी। इन प्रदेशों में बहुत-सी ताम्र-युग की प्राचीन स्थलियां पाये गये हैं। इनका फैलाव पंजाब, सिन्धु, बलूचिस्तान, गुजरात, राजस्थान और पश्चिमी उत्तर प्रदेश, परंतु खुदाई में इसके क्षेत्र वर्तमान में बढ़ भी सकते हैं। उत्तर में जम्बू के मांग जिले दक्षिण में नर्मदा नदी के मुहाना भगतराव तक और पश्चिम में बलूचिस्तान के मकरान तट से पूर्व में मेरठ जिला आलमगीरपुर तक इसका फैलाव था। यह एक त्रिभुजाकार क्षेत्र है जिसका क्षेत्रफल लगभग 12,99,600 वर्ग कि.मी. है। यह क्षेत्र न सिर्फ पाकिस्तान से बल्कि मिश्र तथा मेसोपोटामिया से भी बड़ा है।

सिन्धु सभ्यता के निर्माता

इस सभ्यता के निर्माता कौन थे यह बहुत ही कठिन प्रश्न है। इस सभ्यता की आबादी में चार जातियां शामिल थीं–प्रोटो-अस्ट्रेलियाड, मेडिटेरियन, आल्पीनायड ओर मोगोलायड। आमतौर पर यह धारणा है कि इस सभ्यता के निर्माता भूमध्यसागरीय प्रजाति के थे।

सिन्धु सभ्यता के स्वरूप

सिन्धु घाटी की सभ्यता अन्य नदी घाटी-सभ्यताओं की तरह धातुकालीन सभ्यता थी। यह प्रधानत: कांस्यकालीन सभ्यता थी। इसमें पत्थर और धातु का प्रयोग समान रूप से होता था। पर लोगों को लोहे की जानकारी नहीं थी। वे सोना, चांदी, तांबा, रांगा, सीसा इत्यादि धातुओं से परिचित थे।

हिन्दी में लोकोक्ति है–सौ सत्ताईस कांसा नहीं तो सौ भर तांबे में सौ भर रांगा मिलाने से अच्छा कांसा बनता है।

नगर योजना

सिन्धु सभ्यता की नगर योजना का आधार समाग्री मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, काली बंगा, लोथल, यन्हुदड़ो, सुरकोतड़ा और बनवाली से प्राप्त हुई है। इस सभ्यता को एक उच्चकोटि के नगर सभ्यता कह सकते हैं। यहां के निवासी ग्राम्य जीवन नहीं, नगरीय जीवन व्यतीत करते थे। इसमें बड़े-बड़े नगरों की व्यवस्था की गई थी। हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो के अपन-अपने दुर्ग थे। जहां शासक वर्ग का परिवार रहता था। इन नगरों में भवन जाल की तरह विख्यात थे। सड़कें एक दूसरे को समकोण बनाकर काटते हुए निकलती थी। यहां जल निकासी का भी अच्छा प्रबंध था। हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, काली बंगा की नगर योजना एक समान थी।

हड़प्पा कालीन नगरों के चारों ओर प्राचीन वर्गाकार किलेबंदी करने के उद्देश्य से नगर के शत्रुओं के प्रबल आक्रमण से रक्षा करना नहीं था बल्कि दस्यु एवं लुटेरों से सुरक्षा प्रदान करना था। नालियां-जल निकास प्रणाली सिन्धु सभ्यता की अद्वितीय विशेषता थी जो हमें किसी अन्य भी सभ्यता में नहीं मिलती है। नालियां ईंटों तथा पत्थरों से ढकी होती थी। ईंटें: हड़प्पा, मोहनजोदड़ो और अन्य प्रमुख नगर पकाई गई ईंटों से पूर्णत: बने थे। भवन: हड़प्पा कालीन नगरों के भवन तीन श्रेणियों में विभाजित थे–1. आवासीय भवन, 2. विशाल भवन और 3. सार्वजनिक स्नानागृह था। उनमें एकरूपता थी। काली बंगा के कुछ मकान की फर्श में ईंटों का प्रयोग होता था। प्रत्येक मकान में एक रसोईघर तथा एक स्नानागार था। मोहनजोदड़ो से मिली हड़प्पा सभ्यता की सबसे बड़ी ईंट 51cm.×26.27cm.×6.35cm. के आकार थी। संभवत: मकान छोटे होते थे इनमें चार-पांच कमरे होते थे, कुछ बड़े आकार के भवन भी मिले हैं जिनमें 30 कमरे बनते हैं। तथा 2 मंजिले भवन का भी निर्माण हुआ था। प्रत्येक मकान में ढकी हुई नालियां होती थी।

राजनीतिक व्यवस्था

हड़प्पा संस्कृति की व्यापकता एवं विकास को देखने से ऐसा लगता है कि यह सभ्यता किसी केंद्रीय शक्ति से संचालित होती थी। हड़प्पावासी वाणिज्य की ओर अधिक आकर्षित थे इसलिए माना जाता है कि संभवत: हड़प्पा सभ्यता का शासन वाणिक वर्ग के हाथों में था।

ह्वीलर ने सिन्ध प्रदेश के लोगों के शासन को मध्यवर्गीय जनतंत्रात्मक शासन कहा और उसमें धर्म की महत्ता को स्वीकार की।

स्टुअर्ट पिग्गट–सिन्ध प्रदेश के शासन पर पुरोहित वर्ग का प्रभाव था।

हाटर के अनुसार मोहनजोदड़ो का शासन राजतंत्रात्मक न होकर प्रजातंत्रात्मक था।

मैके के कथनानुसार–मोहनजोदड़ो का शासन एक प्रतिनिधि शासक के हाथ में था।

सामाजिक व्यवस्था

समाज की इकाई परंपरागत तौर पर परिवार थी। मातृदेवी की पूजा तथा मुहरों पर अंकित चित्रों से यह परिलप्ति होता है कि हड़प्पा समाज संभवतः मातृसत्तात्मक था। मगर नियोजन, दुर्ग, मकानों के आकार रूपरेखा तथा शवों के दफनाने के ढंग को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि सैन्धव समाज अनेक वर्गों जैसे पुरोहित, व्यापारी, अधिकारी, शिल्पी, जुलाहे एवं श्रमिकों में विभाजित रहा होगा। इस सभ्यता के लोग शांतिप्रिय थे। इस सभ्यता के लोग मांसाहारी तथा शाकाहारी दोनों थे। भोज्य पदार्थों में गेहूं, मटर, तिल, सरसों, खजूर, तरबूज, गाय, बकरी एवं सुअर का मांस खाते थे। मनोरंजन के लिए पासे का खेल, नृत्य, शिकार तथा पशुओं की लड़ाई प्रमुख साधन थे। शवों की अन्तयोही संस्कार में दो प्रकार के शवोरसर्ग के प्रमाण मिले हैं।

(1) पूर्ण समाधिकरण,

(2) आंशिक समाधिकरण।

धर्म

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की प्राप्त सामग्री इस विषय में थोड़ी है। पुरास्थल से प्राप्त मिट्टी की मूर्तियों, पत्थर की छोटी, पत्थर की निर्मित लिंग एवं योनियों मृदभण्डो पर चित्रित चिन्ह् से यह परिलक्षित होती धार्मिक विचारधारा मातृदेवी, पुरुषदेवता, लिंग-योनि, वृक्ष प्रतिक, पशुअण्ड आदि की पूजा की जाती है। हड़प्पा से प्राप्त एक लंबी मुहर पर पृथ्वी या मातृदेवी का चित्र है, जिसकी योनि में से एक अंकुर निकल रहा है और पास में हाथ में छुरी लिए एक पुरुष और हाथ ऊपर उठाए हुए एक स्त्री जो संभवतः देवी के बलि के लिए थी।

मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक सील पर तीन मुख वाला पुरुष ध्यान की मुद्रा में बैठा है। उसके सिर पर तीन सींग हैं उसके बायींओर एक गैंडा और भैंसा तथा दायीं ओर एक हाथी, बाघ तथा हिरन है। इसे पशुपति शिव का रूप माना गया है। मार्शल ने इन्हे आधा शिव बताया है।

हड़प्पा में पक्की मिट्टी की स्त्री-मूर्तिकाएं भारी संख्या में मिली है। एक मूर्तिका में स्त्री के गर्भ से निकलता पौधा दिखलाया गया है जो संभवतः पृथ्वी देवी का प्रतीक माना गया है।

हड़प्पा सभ्यता से स्वास्तिक चक्र और क्रास के भी साक्ष्य मिलते हैं स्वास्तिक और चक्र सूर्य पूजा का प्रतीक था।

धार्मिक दृष्टिकोण का आधार इहलौकिक तथा व्यावहारिक अधिक था। मातृपूजा का आरंभ संभवतः सैंधव सभ्यता से ही होता है।

आर्थिक जीवन

हड़प्पाकालीन अर्थव्यवस्था सिंचित कृषि, पशुपालन, विभिन्न दस्तकारियों में दक्षता और समृद्धि आंतरिक एवं विदेशी व्यापार पर आधारित थी।

कृषि

सिन्धु घाटी के लोग बाढ़ उतर जाने पर नवंबर के माह में बीज बो देते हैं। और अप्रैल महीने में गेहूं, जौ की फसल काट लेते हैं।

- सैंधव सभ्यता में कोई फावड़ा या फाल नहीं मिला है, परंतु कालीबंगा में हड़प्पा पूर्व व्यवस्था में कृषि से ज्ञात होता है कि राजस्थान के खेतों की जुताई हल से होती थी।
- हड़प्पाई लोग लकड़ी के हलों का प्रयोग करते थे, और फसल काटने के लिए पत्थर के हांसियों का प्रयोग करते थे।
- नौ प्रकार के फसलों की पहचान की गई है—चावल, गेहूं, जौ, खजूर, मटर, तिल, राई, केला, अनार, तरबूज, (फलों) में उपजाई जाते थे।

पशुपालन

हड़पाई लोग बैल, भेड़, बकरी, सुअर आदि पालते थे। घोड़े के अस्तित्व का संकेत मोहनजोदड़ो की एक ऊपरी सतह से होता है। गुजरात के निवासी हाथी पालते थे।

शिल्प एवं तकनीक

सैंधव लोग पत्थर के अनेक प्रकार के औजार प्रयोग करते थे। तांबे के साथ टिन मिलाकर कांसा तैयार किया जाता था। हड़प्पा समाज के शिल्पियों में केसरों के समुदाय का महत्वपूर्ण स्थान था। तांबे राजस्थान के खेतड़ी से, टिन अफगानिस्तान से सोना, चांदी, रस आदि भारत मंगाये जाते थे। इस काल में कुम्हार के चाक का खूब प्रचलन था।

लिपि

सिन्धु लिपि में लगभग 64 मूल चिन्ह् एवं 250 से 400 तक अक्षर हैं जो सेलखड़ी की आयताकार मुहरों, तांबे की गुरिकाओं आदि पर मिलते हैं। हड़प्पा लिपि का सबसे पुराना नमूना 1853 में मिला था और 1923 तक लिपि भाव चित्रात्मक है उनकी लिखावट क्रमशः दायीं ओर से बायीं ओर जाती थी। बाट-माप-तौल की इकाई संभवतः 16 के अनुपात में थी उदाहरण 16,64,160,320,640 आदि। हड़प्पा संस्कृति की सर्वोत्तम कलाकृतियां हैं इसकी मुहरें अब तक लगभग 2000 मुहरें प्राप्त हुई हैं। इनमें से 500 मुहरें मोहनजोदड़ो से प्राप्त हुई है।

व्यापार

सिन्धु घाटी का व्यापार उन्नत अवस्था में था। मोहनजोदड़ो के निवासी दूसरे देशों के साथ व्यापारिक संबंध रखते थे। सुमरे, मिश्र और क्रीट के एक मुहर पर मस्तूलविहीन नाव का अंकित चित्र मिला है। जिस पर मल्लाह पतवार पर बैठा हुआ है।

डाक्टर मैके का कहना है कि सुमेर और एलाम के साथ सिन्धु घाटी का संबंध समुद्री मार्ग से भी था। मोहनजोदड़ो व्यापार संबंध था। मिट्टी के बर्तन, सूती कपड़े, अनाज, मसाले, पत्थर की बने माला के दाने, मोती और सुरमा भारत से बाहर जाते और उधर से सोना, चांदी, तांबा, पन्ना, मूंगों तथा लागर्वत पत्थर, शंख, घोंघे तथा सीप का आयात होता था।

सहायक संदर्भ

1. भारत एवं विश्व इतिहास–राजीव नयन प्रसाद
2. हिन्दू सभ्यता–राधाकुमुद मुखर्जी
3. भारतीय इतिहास–किरण कंपीटिशन टाइम्स
4. लंदन की राजकीय प्राच्य पत्रिका–1931 पृ. 593-6 में लेखक भारत और इराक के बीच संपर्क के सुग बताये हैं–लिपि, चित्रित बर्तन, चौकोर ईंट।
5. मोहनजोदड़ो में जो कुछ मिला है वह उसी जाति का है जो मिस्र देश की सबसे पुरानी समाधियों में मिले हैं। देखिए श्रीयुत पीक का समापति भाषण, रायल एंथ्रोपॉलाजीकल इंस्टीट्यूट की पत्रिका, 1927
6. भारत का इतिहास–प्रतियोगिता किरण ईयर बुक 2006।

अलाउद्दीन खिलजी की बाजार नियंत्रण व्यवस्था का ऐतिहासिक विश्लेषण

प्रवीण चन्द्र

शोधार्थी, इतिहास विभाग, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

Abstract

इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता है कि इस नीति की व्यापकता अलाउद्दीन खिलजी की दूरदर्शिता एवं व्यवहारिक बुद्धि का परिचायक था। इतिहासकार आज भी इसे आश्चर्य से देखते हैं। डॉ॰ एस॰ रॉय जिन्होंने उसक व्यक्तित्व और बाजार व्यवस्था की समीक्षा कर लिखा है कि अलाउद्दीन प्रथम मुस्लिम साम्राज्यवादी और भारत का प्रथम महान मुसलमान शासक-प्रबंधक था, जिन्होंने बाजार व्यवस्था द्वारा भारतीय इतिहास में अमिट छाप छोड़ी है। इस नीति को लागू करने के बारे में ऐतिहासकारों में यद्यपि विवाद है फिर भी यह स्पष्ट है कि सुल्तान ने शाही लाभ तथा जनहित की भावना दोनों को ख्याल में रखकर यह व्यवस्था लागू की थी।

विश्लेषण:-

अलाउद्दीन खलजी (1296.1316 ई0) जलालुद्दीन के भाई शिहाबुद्दीन मसूद खजली का पुत्र था। अलाउद्दीन के प्रारम्भिक जीवन अथवा उसकी जन्म तिथि के बारे में कुछ ठीक पता नहीं लगता। ऐसा प्रतीत होता है कि अलाउद्दीन को पढ़ने-लिखने की शिक्षा कम प्राप्त हुई परन्तु वह शास्त्र-विद्या में निपुण हो गया। खलजी-क्रांति में उसने महत्वपूर्ण भाग लिया और ब जलालुद्दीन सुल्तान बना तो उसे 'अमीर-ए-तुजुक' और उसके छोटे भाई अलमास बेग को 'अखूरबेग' का पद दिया गया। जलालुद्दीन ने अपनी एक पुत्री का विवाह अलाउद्दीन के साथ किया तथा मलिक छज्जू के विद्रोह को दबाने में भी अजाउद्दीन महत्वपूर्ण भाग लिया जिसके कारण उसे 'कड़ा-माणिकपुर' की सूबेदारी दी गई। 1296 ई0 में उसने देवगिरि पर आक्रमण किया और वहाँ से अतुल सम्पति लूट कर लाया। इसके उसके सम्मान एवं शक्ति में वृद्धि हुई उसी वक्त उसने जलालुद्दीन को माणिकपुर बुला कर धोखे से कत्ल कर दिया। अलाउद्दीन ने स्वयं को कड़ा-माणिकपुर में ही सुल्तान घोषित कर दिया तथा अबुल मुजफ्फर सुल्तान अलाउद्दीनिया-बा-दीन मुहम्मद खलजी की उपाधि धारण की। अलाउद्दीन खिलजी दिल्ली सल्तनत का सर्वाधिक महत्वाकांक्षी एवं महत्वपूर्ण शासक माना जाता है। इन्हें महान कह कर नहीं पुकारा गया है, परन्तु वह महानता के काफी निकट था और तुलनात्मक दृष्टि से दिल्ली सल्तनत के सुलतानों में उसे महान स्वीकार करना अनुचित नहीं है। अलाउद्दीन के समकालिक अमीर खुसरो और उसके परवर्ती इसामी दोनों ने अलाउद्दीन को 'एक भाग्यशाली व्यक्ति' कहा है। वह अपने प्रशासनिक एवं आर्थिक सुधारों के लिए जाना जाता है। उसके राजस्व सम्बन्धी सुधार एवं बाजार नियंत्रण प्रणाली का अपना ऐतिहासिक महत्व है। इतिहासकारों के अनुसार इस सुधार कार्यक्रम नें उसे एक मध्यकालीन राजनीतिक अर्थशास्त्री बना दिया। सुल्तान द्वारा बाजारों को नियंत्रित करना एवं दैनिक प्रयोग की वस्तुओं का मूल्य निर्धारण उस काल का अद्वितीय प्रयोग कहा जा सकता है। आधुनिक इतिहासकारों में से कुछ ने यह विचार भी प्रकट किया है कि बाजार नियंत्रण और उसके परिणामस्वरूप वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करने में अलाउद्दीन का उद्देश्य मानवीय था। वह अपनी

प्रजा को सभी वस्तुएँ उचित मूल्य पर और पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध कराना चाहता था। इसी कारण उसने यह कार्य किया था। उसके इस विचार का आधार शेख नासिरूद्दीन द्वारा लिखे गये ग्रंथ 'खायरूल-माजालिस' में शेख हमीदुद्दीन का एक संवाद है, जिसमें अलाउद्दीन की अपनी प्रजा की भलाई की भावना की प्रशंसा की गई है। अमीर खुसरो द्वारा 'खजाइनुल फूतूह' में भी अलाउद्दीन के बाजार व्यवस्था की प्रशंसा की गई है।

उद्देश्य एवं कारण–

इस नीति के कार्यान्वयन के पीछे कई महत्वपूर्ण कारण बताये जाते हैं जिसमें प्रमुख थे–

1. सुलतान ने यह कदम अपनी विशाल सेना (पौने पाँच लाख सैनिक) की सुविधा का ख्याल रखते हुए उठाया था। उसने इससे पूर्व अपने सैनिकों के वेतन में वृद्धि की थी जो पर्याप्त नहीं थी।
2. साम्राज्य विस्तार के बढ़े प्रशासनिक व्यय को कम करने हेतु उसने यह कार्य किया था।
3. सुल्तान ने राजस्थान, गुजरात तथा दक्षिण भारत की विजयों से लूट द्वारा प्राप्त धन को खुले हाथों लुटाया था। इसके चलते हो रही मूल्य वृद्धि को नियंत्रित करना आवश्यक था।
4. डॉ0 ईश्वरी प्रसाद के अनुसार जनता के हित की भावना से प्रेरित होकर सुल्तान ने बाजार नियंत्रण की व्यवस्था शुरू की थी। यह बात नसीरूद्दीन की पुस्तक 'खेर-उल-मजलिस' से भी पुष्टि होती है। किंतु इतिहासकार वर्नी के अनुसार "यह नीति शाही सैनिकों एवं सरकारी लाभ के लिए थी।"

इस नीति को लागू करने के बारे में ऐतिहासकारों में यद्यपि विवाद है फिर भी यह स्पष्ट है कि सुल्तान ने शाही लाभ तथा जनहित की भावना दोनों को ख्याल में रखकर यह व्यवस्था लागू की थी।

विविध पहलू –

बाजार नियंत्रण नीति के विभिन्न पहलूओं को तीन श्रेणी में बाँटा गया था–

दैनिक प्रयोग की वस्तुओं का मूल्य निर्धारण

खाद्यान्नों, वस्त्र, दास-दासियों, पशु आदि के मूल्य की सूचि तैयार करके सुल्तान ने बाजार में इन सब वस्तुओं का मूल्य नियंत्रित करा दिया था। मिश्री, हलवा, रेवड़ी, अन्य मिठाईयाँ, शाक-सब्जी, रोटी आदि के अतिरिक्त प्याले, कटोरे, मटकों, जूतों-चप्पलों, कंघी, पान-सुपारी आदि की भी कीमतें तय की गई थी। वर्नी के शब्दों में "बादशाह ने बड़ी कठिनाई से एक सुई से लेकर सारी वस्तुओं का मूल्य निर्धारण किया। उसने लाभ का प्रतिशत तय किया। इसकी एक सूची दुकानों में टँगवाई एवं दूसरी 'दीवान-ए-रियासत' के यहाँ रखवा दी।

सम्बन्धित विभाग एवं अधिकारीगण

सारी व्यवस्था का प्रधान 'दीवान-ए-रियासत' था। बादशाह ने अपने विश्वस्त अमीर याकुब की इस पद पर नियुक्ति की थी। दिल्ली के बाजार को तीन भागों में बाँटा गया था।

(i) शहना-ए-मण्डी (खाद्यान्न बाजार)
(ii) सराए-ए-अदल (कपड़ा बाजार) और
(iii) अन्य वस्तुओं का बाजार ।

प्रत्येक बाजार में तीन अधिकारी – निरीक्षक, बारीद (घुम-घुमकर सूचनाएँ एकत्रित करने वाला), मनुहियाना या गुप्तचर होते थे। बारीद अपनी सूचना 'शहना' के पास तथा वह दीवान-ए-रियासत को देता था। कर्त्तव्य की लापरवाही के कारण उन्हें दण्डित भी होना पड़ सकता था। 'दीवान-ए-रियासत' के याकूब बड़ा ही ईमानदार, कठोर, निष्ठुर एवं किसी के साथ कोई रियायत नहीं करने वाला था। अत: उसने अपनी कुशलता का परिचय दिया। अन्य अधिकारी भी उसके तथा सुलतान के भय से काफी तत्पर रहा करते थे।

बाजारों की व्यवस्था –

सभी प्रधान व्यवसायों की व्यवस्था अलग-अलग थी। सबके लिए अलग-अलग 'शहना' की नियुक्ति की गई थी। शहना अपने अधिकार क्षेत्र में स्वतंत्र होता था। वह शाही सूची की जाँच के लिए व्यवसायिकों तथा ग्राहकों से मिलकर जानकारी एकत्रित करता था। बाटों की भी जाँच की जाती थी। अधिक मुनाफा लेने वाले व्यापारियों के लिए दण्ड की व्यवस्था थी।

व्यापारी मोटे तौर पर दो भागों में बँटे हुए थे– बाहर से माल लाने वाले एवं बाजार से वस्तु बेचनेवाले दीवाने-ए-रियासत उनकी सूची तैयार कर उन्हें व्यापार की इजाजत देता था। व्यापारियों को दिल्ली में रहने का आदेश मिला हुआ था। किसी भी गोल-माल के लिए सपरिवार दण्ड की व्यवस्था थी। दलाल बाजार से निकलवा दिए गए थे। रेशमी वस्त्र तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुओं की खरीद के लिए भी पूर्व अनुमति लेनी पड़ती थी। व्यापारियों की बेईमानी के लिए यद्यपि गुप्तचरों की व्यवस्था थी। फिर भी सुलतान कभी-कभी स्वयं अबोध दास बालकों से सामान मंगवाता था। जिसे पुन: तौलवाया जाता था। तौल घट जाने या अन्य किसी प्रकार के भी अपराध के लिए व्यापारियों को कोड़े मारने, कैद किए जाने अथवा अंग-भंग किए जाने के दण्ड का प्रावधान था।

इस बारे में यदि कोई अधिकारी भी दोषी पाया जाता था, तो उन्हें भी दण्डित किया जाता था। चाहे वह कितना भी बड़ा अधिकारी होता था। एक बार दुर्भिक्ष के नाम पर सुल्तान से मूल्य घटाने के आग्रह के कारण मलिक काफूर जैसे वरिष्ठ अधिकारी को भी सुल्तान ने बीस कोड़े लगवाए थे। यहाँ यह स्मरणीय तथ्य है कि व्यापारियों पर जहाँ इतने कठोर नियंत्रण थे, वहीं उन्हें सरकारी खजाने से सामान खरीदने के लिए अग्रिम दिया जाता था। उन्हें व्यापार में घाटा नहीं लगने देने की गारन्टी भी दी जाती थी। अनाज के ब्यापारी को सरकारी गोदाम से भी अनाज उपलब्ध कराया जाता था। कपड़े तथा पशु-व्यापारी को भी अनेक सहूलियतें थी।

वास्तव में अलाउद्दीन की बाजार व्यवस्था अति संगठित थी। इसमें विभिन्न वस्तुओं की व्यवस्था अलग-अलग थी–

(क) **खाद्यान्न का बाजार–** वर्नी ने लिखा है कि "राजधानी में खाने-पीने की वस्तुओं की एक मूल्य तालिका लगा दी गई थी।" अनाज के व्यापारी दो तरह के थे– दुकानदार एवं काफिले वाले (आपूर्तिकर्त्ता) दिल्ली में अनाज लेने वालों के लिए दोआब (गंगा-यमुना के) तथा बयाना क्षेत्र में व्यवस्था की गई थी। इन क्षेत्रों में कर भी अन्न के रूप में वसूला जाता था। किसान जरूरत से ज्यादा अन्न अपने पास नहीं रख सकते थे। अतिवृष्टि, अनावृष्टि तथा अकाल आदि से उत्पन्न विषम परिस्थितियों से निबटने के लिए अनेक सरकारी गोदामों की स्थापना की गई थी। सरकार भी अन्न खरीदकार संग्रह करती थी। दिल्ली के प्रत्येक मुहल्ले में दो-तीन गोदाम थे। सभी वस्तुओं के मूल्य निर्धारण से मूल्य साम्य हो गया था। वर्नी के अनुसार बाजारों की समस्त वस्तुओं के मूल्य में

एकरूपता एक आश्चर्य की बात थी।" इस बाजार में भी 'बारीद या मुनहियान आदि कर्मचारी थे। यह नीति इतिहासकारों के अनुसार काफी सफल रही।

(ख) **वस्त्रों का बाजार :-** वस्त्र बाजार की व्यवस्था बदायूँ दरवाजे के अन्दर "सराय अदल' में की गई थी। बाजार प्रात: काल से लेकर रात्रि के अन्तिम नमाज तक खुला रहता था। शहर में वस्त्र का यह अकेला बाजार था। वस्त्र व्यापरियों को अपनी दुकान का पंजीयन दीवना-ए-रियासत' में कराना आवश्यक था। पंजीयन के समय ही उन्हें एक नियत मात्रा में नियत लाभ पर वस्त्र पहुँचाने का आश्वासन देना पड़ता था। शेख नसीरूद्दीन चिराग के अनुसार "एक रजाई या दो टंका में बनवाई जा सकती थी। रेशमी वस्त्र काफी मँहगे होते थे।" सुल्तान के निर्धारित मूल्य पर स्थानीय व्यापारी जब कपड़ा बेचने को तैयार नहीं हुए तब इसका भार मुल्तानियों के उपर छोड़ दिया गया था। उन्हें व्यापार के लिए अग्रिम भी दिया जाता था। अन्न तथा उच्च्कोटि के वस्त्रों को खरीदने के लिए भी क्रेताओं को 'दीवान-ए-रियासत' से अनुमति लेनी पड़ती थी। अत: इस जटिलता के कारण महँगे वस्त्रों की कालाबाजारी होने लगी थी।

(ग) **दासों और महेशियों के बाजार :-** इन बाजारों पर चार सामान्य नियम लागू होते थे।

(i) किस्म के अनुसार मूल्य का निर्धारण

(ii) व्यापारियों और पूँजीपतियों का बहिष्कार

(iii) दलालों पर कठिन नियंत्रण और

(iv) सुल्तान द्वारा बार-बार जाँच पड़ताल करना।

सेना के लिए स्वीकृत होने वाले घोड़े अपनी नस्ल व योग्यता के अनुसार तीन श्रेणियों में विभाजित किये गए थे। प्रथत श्रेणी 100 से 120 टंके, द्वितीय श्रेणी 80 से 90 टंके, तृतीय श्रेणी 60 से 70टंके और छोटे भारतीय टट्टू जो सेना के लिए उपयुक्त नहीं माने जाते थे 10 से 20 टंके मूल्य के रखे गए । अगला अधिनियम यह था कि प्रमुख घोड़ों के दलाल घोड़ों सहित प्रत्येक चालीस दिन या दो मास बाद सुल्तान के सामने लाए जाते थे। इन्हीं पद्धतियों से दासों और पशुओं की कीमतें निश्चित की गई। बर्नी की सूची के अनुसार घर में काम करने वाली दास का मूल्य 5 से 12 टंके, विषय भोग के लिए 20 से 40 टंके, सुंदर व युवा दास 20 से 30 टंके, तथा अयोग्य दास की कीमत 7 से 8 टंके थे। ऐसे ही नियम पशुओं के बाजार में भी लागू किए गए। महीने दो महीने पर पशुओं की कीमत की जानकारी ली जाती थीं ।

बाजार नियंत्रण के क्षेत्र –

अलाउद्दीन खिलजी के बाजार-नियंत्रण क्षेत्र के विषय में इतिहासकारों में विवाद है। कुछ इतिहासकार इसे दिल्ली तथा उसके आसपास के इलाके तक ही सीमि मानते हैं, जबकि फरिश्ता सदुश इतिहासकार ने इसे सम्पूर्ण सल्तनत में ब्याप्त माना है। 'तारीख-ए-फिरोजशाही में वर्णित बाजार व्यवस्था में दिल्ली तथा समीपवर्ती क्षेत्रों का ही वर्णन है। बर्नी का यह कथन कि "अनेक वस्तुएँ दिल्ली में सस्ती हो गई थी तथा वर्षो तक रहीं" भी यही सिद्ध करता है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि सुल्तान ने यह व्यवस्था अपने सैनिकों के लिए की थी। यह बात ज्यादातर इतिहासकार मानते हैं। यदि ऐसा था तब इस व्यवस्था का प्रभाव राज्य में सर्वत्र पड़ा होगा क्योंकि सैनिक स्वतंत्र थे। हाँ, दिल्ली में इसका ज्यादा लाभ अवश्य मिला होगा।

नीति के सफलता के कारण –

अलाउद्दीन की यह नीति बहुत हद तक सफल रही थी । राज्य के हर हिस्से में इस कदम का स्वागत किया गया था। नीति के सफल होने के कारण थे, सुल्तान की व्यावहारिकता, ईमानदार अधिकारियों की नियुक्ति, दण्ड की कठोरता, गुप्तचरों व्यवस्था, सामान की नियमित आपूर्ति का प्रबन्ध व्यापरियों को दी गई सुविधाएँ, प्रजा व सेना दोनों के हित साधन का लक्ष्य एवं समय व परिस्थिति की अनुकूलता आदि ने इसे सफल बनाने में सहायता दी। इतिहासकारों के अनुसार इसमें सबसे ज्यादा प्रभाव सुलतान के कठोर नीति का पड़ा, क्योंकि सुल्तान की मृत्यु के साथ ही यह व्यवस्था समाप्त हो गई।

प्रभाव –

यह नीति सुल्तान के मौलकता एवं बौद्धिक शक्ति का परिचायक था। इसके अच्छे-बुरे दोनों ही प्रभाव पड़े। इस नीति ने सुल्तान के सुगठित शाही सेना की व्यवस्था को मजबूती दी। सैनिक इस व्यवस्था से काफी संतुष्ट थे। इसके चलते साम्राज्य के विस्तार एवं साम्राज्य में शांति स्थापना में पूरी सफलता मिली। जीवन की प्रत्येक आवश्यक वस्तुएँ सस्ती एवं प्रचुरता से उपलब्ध थी। राज्य की शांति ने सुलतान को भवन निर्माण कराने में, शिक्षा, साहित्य एवं अन्य कलाओं के विकास का अवसर दिया। इस व्यवस्था ने अमीरों के विलासिता पूर्ण जीवन को समाप्त कर उनमें संयम का आधार पैदा किया। राज्य की अधिकांश जनता विषादग्रस्त थी। व्यापारी और किसान भी इससे विशेष लाभान्वित नहीं हुए। व्यापारी की जटिल नियमावली के कारण कई व्यापारियों ने भी व्यापार छोड़ दिये थे। अधिकारियों की क्रूरता से बाजार में आतंक छाया रहता था। कृषकों की तो रीढ़ ही टूट गई, एक तो वे पहले से ही कर भार से दबे थे, ऊपर से उन्हें अपनी फसल बेचने की स्वतंत्रता भी नही थी। सुलतान ने अपनी इस नीति की बलिवेदी पर कृषि और व्यापार की हत्या कर दी।

उपरोक्त तथ्यों के अवलोकनोपरांत इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता है कि इस नीति की व्यापकता अलाउद्दीन खिलजी की दूरदर्शिता एवं व्यवहारिक बुद्धि का परिचायक था। इतिहासकार आज भी इसे आश्चर्य से देखते हैं। डॉ0 एस0 रॉय जिन्होंने उसक व्यक्तित्व और बाजार व्यवस्था की समीक्षा कर लिखा है कि अलाउद्दीन प्रथम मुस्लिम साम्राज्यवादी और भारत का प्रथम महान मुसलमान शासक-प्रबंधक था, जिन्होंने बाजार व्यवस्था द्वारा भारतीय इतिहास में अमिट छाप छोड़ी है।

संदर्भ ग्रंथ –

1. खलजी-कालीन भारत – स0 अ0 अ0 रिजवी
2. मध्यकालीन भारत – इरफान हबीब
3. मध्यकालीन भारत (भाग 1) – हरिश्चन्द्र वर्मा
4. मध्यकालीन भारत – एल0 पी0 शर्मा
5. मध्यकालीन भारत (एक सवेक्षण) – इम्तियाज अहमद
6. मध्यकालीन भारत (कक्षा 11 के लिए) – एन0 सी0 आर0 टी0
7. द एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ द सल्तनत ऑफ देलही – आई0 एच0 कुरैशी
8. कम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया : द देलही सल्तनत – मो0 हबीब एवं के0 ए0 निजामी
9. हिस्ट्रोरियन्स ऑफ मैडीबल इण्डिया – एम0 एच0 खान
10. खलजी सुल्तान्स इन राजस्थान – ए0 के0 श्रीवास्तव।

कांग्रेस-समाजवादी पार्टी: स्थापना के राजनीतिक-ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

कुमारी ज्योति

शोध छात्रा, इतिहास विभाग, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा

1934 में गठित कांग्रेस-समाजवादी पार्टी अपनी विकास प्रक्रिया में जिस तरह के राजनीतिक और वैचारिक अन्तर विरोधों में क्रमिक गति से उलझती चली गई कि 1934 के बाद के राष्ट्रीय आन्दोलन और स्वंतत्र भारत के आर्थिक-राजनीतिक विकास प्रक्रिया ने उसे ऐसा असंगत बना दिया कि आज समाजवादी पार्टी अपनी शुरूआती वैचारिकता के, संदर्भ में भारत में कही भी अस्तित्वमान नही रह गई है। इसकी वैचारिकता के खास कर इस आन्दोलन के नेता डा० राममनोहर लोहिया की पिछड़े वर्ग की राजनीतिक वैचारिकता के-वाहक तत्वों ने अलग-अलग राजनीतिक दलों, जैसे बिहार में राष्ट्रीय जनता दल, जनता दल यू, लोक जनतांत्रिक पार्टी, यू.पी. में समाजवादी पार्टी, बहुजन समाजवादी वार्टी, कर्नाटक में जनता दल एस. आदि के नामों से क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का निर्माण कर इसके अस्तित्व को ही, समाप्त कर दिया है। वास्तव में कांग्रेस समाजवादी पार्टी में बिखराव का यह क्रम नया नही है, बल्कि आजादी के आन्दोलन के क्रम में ही यह पार्टी वैचारिक अन्तरविरोधों में फँसी दीख जाती है, मगर साम्राज्यवाद विरोध और आजादी के लिए संघर्ष में ऐसे मजबूत कारक थे, जो इसकी एकता को बनाये रखे, मगर आजादी पश्चात स्वंतत्र भारत के निर्माण के प्रति अपनाई जा रही नीतियाँ इस पार्टी की वैचारिकता में विद्यमान अन्तरर्विरोधों को तीव्र से तीव्रतर करती गई और पार्टी विघटन, अन्य दलों से गठबंधन, पुन: विघटन और पुन: गठबंधन की एक ऐसी प्रक्रिया में उलझ गई कि इसका मूल राजनीतिक दर्शन ही समाप्त हो गया और आज जो कुछ बचा है वह है राजनीतिक सत्ता में जाने के लिए किसी भी वैचारिकता वाली पार्टी से गठबंधन कर लेना।

इस भटकाव को किसी विशेष कटलिस्ट के कारण पैदा हुआ अप्रत्याशित घटना मानना गलत होगा, बल्कि यह उस ऐतिहासिक विकास प्रक्रिया के क्रम में आगे बढ़ी है जिसमें कांग्रेस-समाजवादी पार्टी ने हो रहे राजनीतिक-आर्थिक बदलावों के सम्यक विवेचन के प्रति अवैज्ञानिक दृष्टिकोण रखा। यह अवैज्ञानिकता पार्टी के गठन के साथ-साथ आया, मगर आचार्य नरेन्द्र देव जैसे प्रतिबद्ध समाजवादी के जीवन काल में यह किसी-न-किसी तरह संयमित होता रहा, मगर बाद में इसे ठीक नहीं किया जा सका, पार्टी बिखर गई।

प्रस्तुत लेख मूल रूप में उन वैचारिकताओं के विश्लेषण तक ही अपने को सीमित रखा है जिसने कांग्रेस समाजवादी पार्टी के निर्माण में एक उत्प्रेरक की भूमिका अदा की।

17 मई, 1934 में पटना के अंजुमन इस्लामिया हॉल में, सुलझे मार्क्सवादी, आचार्य नरेन्द्र देव की अध्यक्षता में कांग्रेस-समाजवादी पार्टी का गठन किया गया। वास्तव में यह कोई आकस्मिक घटना नहीं थी, नहीं किसी नई राजनीतिक विचारधारा के अभ्युदय का परिणाम। देखा जा सकता है कि अपनी स्थापना कि बाद के 20 वर्षों तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और उसका नेतृत्वकारी वर्ग, भारत का उदीयमान पूँजीपतिवर्ग का शिक्षित उपरी मध्यवर्गी तबका जिस तरह का एक 'आवेदनकारी आन्दोलन चलाता आ रहा था और एक गरमदली तबका उसके खिलाफ सामने जरूर आया था, मगर इस तबके को भी कोई विशेष सफलता तब तक नहीं मिल सकी थी जब तक 1905 की रूसी क्रान्ति

और एशियाई जापान की जारशाही रूस पर हुई विजय के क्रान्तिकारी प्रभावों का असर भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन पर न पड़ा। इसने कांग्रेस संगठन और राष्ट्रीय आनदोलन दोनों को बड़े ही साकारात्मक दिशा में प्रभावित किया। 1905 के कांग्रेस अधिवेशन में बहिष्कार का लिया गया प्रस्ताव न सिर्फ कांग्रेस के अन्दर के नरमदली और गरम दली तबके के वैचारिक विभाजन को मिटा दिया बल्कि यह एक ऐसा प्रस्ताव था जो ब्रिटिश सरकार के आर्थिक हितों पर सीधा प्रहार करने वाला था और स्वदेशी पूँजी को लाभ पहुँचाने वाला भी था।[1] इसको बंगाल विभाजन और तिलक को 6 साल की सजा दिए जाने के खिलाफ मजदूर वर्ग का जो सशक्त स्वस्फूर्त आन्दोलन हुआ उस आन्दोलन में मजदूर वर्ग की वर्गीय भूमिका के भविष्य के प्रति एक विश्वसनीयता का आभास पैदा किया।

मगर, विडम्बना रही कि यह क्रान्तिकारी उभाड़ कांग्रेस द्वारा मार्ले-मिन्टो सुधार कार्यक्रम के साथ समझौता कर लिए जाने के कारण एक ऐसे नैराश्य में बदला कि राष्ट्रीय आन्दोलन की क्रान्तिकारी शक्तियाँ निराश हुई और एक विकल्प की खोज में तितर-बितर हो गई- एक समूह विदेशों की तरफ इस आशय से प्रस्थान कर गया कि वह ब्रिटेन विरोधी देशों की मदद से भारत में क्रान्तिकारी आन्दोलनों को अंजाम देगा, तो एक तबका उग्रवादी क्रान्तिकारी वैचारिकता से प्रभावित होकर बमों और पिस्तलों की सहायता से क्रान्ति को सम्पन्न करने की रणनीति की तरफ मुखातिब हो एक समाजवादी विकल्प की तलाश में लग गया। क्रान्तिकारी शक्तियों के इस बिखराव का परिणाम था कि राष्ट्रीय आन्दोलन में स्थिरता का दौर आ गया।

यह काल वैश्विक आधार पर वित्तीय पूँजी में पूँजीवाद के मजबूती के साथ प्रवेश के कारण साम्राज्यवादी देशों के बीच प्रतिस्पर्धा के कारण जिस अन्तर्विरोध को पैदा किया, इसका परिणाम बाजार के पुनर्बटवारे के लिए साम्राज्यवादी देशों के बीच युद्ध को जन्म दिया और 1914 में प्रथम विश्वयुद्ध शुरू हो गया। युद्ध के चारित्रिक मूल्यांकन पर राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व कर रही कांग्रेस और क्रान्तिकारी वैचारिकता वाले तत्वों में मतभेद पुनः सामने आ गया-कांग्रेस ने युद्ध में ब्रिटेन का समर्थन किया मगर मजदूर वर्ग ने युद्ध को दोनों तरफ से शोषकों का युद्ध बता कर इसका विरोध किया। मगर युद्धकाल में क्रान्तिकारी तत्वों के खिलाफ कारवाई के लिए अनुशंसा करने के लिए जब रौलट कमीशन की बहाली हुई और उसका रिपोर्ट सामने आया तब उसकी भयावहता के खिलाफ चलाए गए आन्दोलनों में मजदूर वर्ग ने जिस तरह क्रान्तिकारी सक्रियता के साथ हिस्सा लिया वह एक अभूतपूर्व घटना के रूप में सामने आया। हालाँकि गाँधी ने आन्दोलन को उसी वक्त स्थगित कर दिया जब वह अपनी ऊँचाई पर पहुँचा था। मगर इस बीच घटित वैश्विक क्रान्तिकारी घटनाओं, 1917 की स्फल रूसी क्रान्ति, 1920 में आहूत कमिटर्न की दूसरी कांग्रेस, जिसने विश्व के मजदूर वर्ग को निर्देशित किया कि वह साम्राज्यवाद के खिलाफ लड़े जा रहे राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों में पूँजीवादी-जनवादी आन्दोलनों के साथ मिल कर संघर्ष करे[2] -का जो प्रभाव भारत पर पड़ा उसने मजदूर वर्ग द्वारा शुरू किए गये आन्दोलनों को 1919 और 1920 में भी जारी रखने के लिए प्रेरित किया। नतीजा हुआ कि 1919 के मानटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार कार्यक्रम के साथ कांग्रेस द्वारा समझौता किए जाने की सारी जमीनों को ही इन आन्दोलनों ने खिसका दिया था। दूसरी महत्वपूर्ण घटना थी 1920 के उतरार्द्ध में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना। अब मजदूर वर्ग के पास उनका एक अखिल भारतीय वर्गीय संगठन हो गया था, जिसके द्वारा उनके आन्दोलनों को नेतृत्व मिलना शुरू हो गया था।[3] इसके बाद असहयोग आन्दोलन में मजदूरों और किसानों. की एकता का जो परिदृश्य चौरी चौरा में सामने आया उससे भयभीत गाँधी ने जिस तरह असहयोग आन्दोलन को बेशर्त वापस किया उसका प्रभाव राष्ट्रीय आन्दोलन पर बड़ा ही हतोत्साहित करने वाला था। 1905 के आन्दोलनों, 1919

के रालेट बिल के खिलाफ आन्दोलनों और 1921-22 के असहयोग आन्दोलन की एक ही परिणति दीखी, आन्दोलन को गठित करना, उसे एक खास उँचाई पर ले जाकर ब्रिटिश सरकार के उपर दबाब बनाना और उनका उपयोग कर भारतीय पूँजी के पक्ष में समझौता कर लेना। प्रथम विश्व युद्व के प्रश्न पर तो गाँधी के नेतृत्व में कांग्रेस की नीति का और स्पष्ट खुलासा हुआ- युद्ध का विरोध जहाँ वैश्विक पैमाने पर क्रान्तिकारी वैचारिकता वाले और साम्राज्यवाद विरोधी ताकतें कर रही थी गाँधी ने इसमें ब्रिटिश सरकार की मदद की हर सम्भव कोशिशें की। उनकी ब्रिटिश सरकार पक्षी इस रूझान के पीछे मात्र यही कारक था कि युद्ध भारतीय पूँजी के लिए एक अवसर प्रदान कर रहा था कि उद्योगों में उसे ज्यादा हिस्सेदारी का मौका मिल रहा था।

असहयोग आन्दोलन की बेशर्त वापसी के बाद राष्ट्रीय आन्दोलन में एक ऐसी वैचारिकता का प्रादुर्भाव दिखा, जो गाँधीवादी नीति, असहयोग, अहिंसा, ट्रस्टीशिप के साथ-साथ साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष और संघर्ष के प्रभावों का इस्तेमाल करके भारतीय पूँजी के पक्ष में साम्राज्यवाद के साथ समझौता करने की नीति की आलोचना करना और एक वैकल्पिक नीति की तलाश में लग गया। 1922 में कांग्रेस के गया में आहुत अधिवेशन में कांग्रेस के भीतर फूट और स्वराज पार्टी की स्थापना इसी वैकल्पिक नीति के प्रभाव का परिणाम था। सी.आर. दास मोतीलाल नेहरू आदि की अगुवाई में गठित स्वराज पार्टी ने गाँधीवादी नीतियों की आलोचना जरूर किया मगर कोई विकल्प नहीं दे सकी। कारण था कि यह पार्टी पूँजीपति वर्ग के उच्च तबके के प्रगतिशील तत्वों को लेकर गठित थी, इस कारण यह प्रगतिशील वैचारिकता को अपना आधार नहीं बना सकी और अन्ततः साम्राज्यवाद के साथ समझौता की ही नीति पर चली गई। मगर कांग्रेस के अन्दर गाँधीवादी वैचारिकता के विकल्प की तलाश समाप्त नही हुई।

1925 के आते-आते कई महत्वपूर्ण राजनीतिक घटनाए राष्ट्रीय आन्दोलन के पटल पर आई। इनमें भारत को नया संविधान देने के लिए साइमन कमीशन गठित किए जाने की ब्रिटिश संसद की घोषणा, 1925 में एक कम्युनिस्ट पार्टी का निर्माण, वर्कर्स एण्ड पीजेटस पार्टी का स्वरूप में आना जिसने कांग्रेस के अन्दर के वामपंथी वैचारिकता वालो, कम्युनिस्टों, और ट्रेड यूनियन के प्रगतिशील और क्रान्तिकारी विचार वालों की एकता बना कर एक मंच पर ला दिया, इतना ही नहीं, साम्राज्यवाद विरोधी लीग की ब्रुसेल्स में हुई स्थापना सम्मेलन में जवाहरलाल नेहरू ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में हिस्सा लिया, वर्कर्स वेलफेयर लीग, रेड इन्टरनेशनल ऑफ लेबर यूनियन्स आदि जैसे साम्राज्यवाद विरोधी संगठनों के साथ राष्ट्रीय आन्दोलन की एकता बनी, आदि। इन घटनाओं ने राष्ट्रीय आन्दोलन में जहाँ वामपंथी वैचारिकता के प्रभाव को स्पष्ट रूप से बढ़ाया वही वैश्विक पैमाने पर साम्राज्यवाद प्रथम विश्वयुद्ध जनित भयंकर आर्थिक मंदी में उलझा रहा, यह मौका था कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर कारगर हमला किया जाय।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर कारगर हमला के इस अवसर को मद्रास में 1927 में आहुत कांग्रेस अधिवेशन ने, जिसमें वामपंथी वैचारिकता वालों का प्रभाव पूर्व की अपेक्षा ज्यादा मजबूत स्थिति में दीख रहा था, सही ढंग से आका।[4] इस सम्मेलन ने साइमन कमीशन बहिष्कार, अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को साम्राज्यवाद विरोधी लीग से सम्बद्ध कराने, चीन में चल रहे राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन को समर्थन देने आदि प्रस्तावों को तो स्वीकृत किया ही, सबसे बढ़कर भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के लक्ष्य के रूप में पूर्ण स्वतंत्रता के प्रस्ताव को स्वीकृत कर साम्राज्यवाद पर करारा हमला बोलने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। इस पुरे संदर्भ में कांग्रेस-समाजवादी पार्टी के गठन का विचार अभी भी सामने नहीं आया था।

1927 के कांग्रेस अधिवेशन के प्रस्तावों के कार्यान्वयन का सिलसिला जब साइमन कमीशन बहिष्कार आन्दोलन की शुरूआत से आरम्भ हुआ तब पुनः कांग्रेस के अन्दर ही उदारवादी वैचारिकता और क्रान्तिकारी वैचारिकता के बीच का टकराव सामने आ गया। कांग्रेस साइमन कमीशन के बहिष्कार के निणर्य के साथ खड़ी जरूर रही, मगर उसके उदारवादी नेतृत्व, जो गाँधी की नीति के पीछे खड़ा था, कमीशन का बहिष्कार इस नारे पर करना चाहता था कि यह कमीशन 'आल ह्वाइट' यानि पूर्णतः अंग्रेज सदस्यों को लेकर गठित है, इसमें एक भी भारतीय नही हैं। इस नारे का स्पष्ट मतलब था कि अगर समान अधिकार के साथ कुछ भारतीयों को कमीशन में शामिल कर लिया जाता तो कांग्रेस का यह नेतृत्व ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ समझौता कर लेता। यह नारा समझौतावादी था। दूसरी तरफ स्वराज पार्टी ने बहिष्कार आन्दोलन में इस नारे के साथ शामिल हुई कि नये संविधान के निर्माण के लिए एक प्रारूप पर गोलमेज सम्मेलन बुलाया जाय। स्वराज पार्टी के इस नारे का मतलब भी एक समझौता करना ही था। क्योंकि इस गोलमेज कान्फ्रेन्स द्वारा तैयार संविधान अन्ततः ब्रिटिश संसद की मंजूरी के बाद ही लागू होना था । इस प्रकार स्वराज पार्टी भी आन्दोलन का उपयोग ब्रिटिश सरकार पर दबाब डाल कर एक समझौता करने की राजनीति की तरफ मुखातिब थी और कांग्रेस के नारे से इसके नारे में कोई बुनियादी फर्क नही था- दोनों साम्राज्यवाद के साथ समझौता की राजनीति को लेकर चल रहे थे।

मगर जो विचारधारा मूल रूप में क्रान्तिकारी बदलाव और पूर्णतः साम्राज्यवाद के विरोध की थी उसके वाहक तत्वों में कांग्रेस के अन्दर का प्रगतिशील तबका, ट्रेड यूनियन आन्दोलन के अन्दर की क्रान्तिकारी वैचारिकता वाले नेता, और कम्यूनिस्ट थे जो वर्कर्स और पीजेन्टस पार्टी के अन्दर संयुक्त रूप से शामिल होकर आन्दोलन को चलाने की नीति के अनुगामी थे। वकर्स एण्ड पीजेन्ट्स पार्टी ने अपने प्रस्ताव ''ए कौल टू एक्सन'' में यह प्रस्ताव रखा था कि प्रश्न यह नही है कि कमीशन में सभी अंग्रेज है या भारतीय, बल्कि प्रश्न यह है कि ''क्या ब्रिटिश संसद को भारत को एक नया संविधान देने का अधिकार है? 'ए कौल टू एक्शन' में जो जबाब इस प्रश्न का था वह थाः 'नहीं'। वर्कस एण्ड पीजेन्टस पार्टी ने स्पष्ट कहा कि भारतीय जनता को वही संविधान मान्य होगा जो सभी बालिग भारतीयों के द्वारा मतदान के आधार पर चुनी गई एक संविधान निर्मात्री सभा द्वारा तैयार किया गया हेा और जिसका लक्ष्य भारत की पूर्ण आजादी का हो।[5] साइमन कमीशन बहिष्कार आन्दोलन में मजदूरों की भूमिका से कफी भय हुआ और 1929 के मार्च माह में इस नारे के वाहक तमाम नेताओं को एक ही रात में गिरफ्तार कर मेरठ षड्यंत्र केश में जेल में डाल दिया गया। इससे आन्दोलन को अपूरणीय क्षति हुई। कांग्रेस के उदारवादी और स्वराज पार्टी की एकता का परिदृश्य 1928 में नेहरू कमिटी मोतीलाल नेहरू की रिपोर्ट में दीखी, जिसमें नए संविधान के मसले पर पूर्ण स्वतंत्रता की मांग को छोड़ दिया गया था और उसकी जगह 'डोमिनियन स्टेटस' को लक्ष्य रखा गया था।[6] वामपंथियों की गिरफ्तारी के कारण अब आन्दोलन पूर्णतः गाँधीवादी नेतृत्व वालों के हाथों में आ गया था। मगर जनता का आक्रोश कम नहीं हुआ था। जन आक्रोश का प्रमाण 1930 के सादर नाफरमानी नमक सत्याग्रह आन्दोलन में दीखा जब गाँधी ने नमक कानून भंग करने के आन्दोलन को चंद चुने हुए लेागों को लेकर आरम्भ किया फिर भी आन्दोलन व्यापक जनता में फैल गया। हालाँकि गाँधी ने जो नारा नमक कानून तोड़ने के लिए लिया था, उसमें किसानों, मजदूरों आदि की मांगों को कहीं भी स्थान नहीं दिया गया था और प्रयास किया गया था कि इन वर्गो को आन्दोलन से बाहर रखा जाय। मगर साइमन कमीशन बहिष्कार आन्दोलन से साम्राज्यवाद विरोधी जो लहर उठी थी उसका

प्रभाव कम नहीं हुआ था, हालाँकि जेल में बंद रहने के कारण आन्दोलन का क्रान्ति नेतृत्व इस आन्दोलन से बाहर था। फिर भी, मजदूर-किसानों की भारी तादाद सादर नाफरमानी आन्दोलन को उचाँई पर ला दिया।

लाहौर में 1930 में जब पूर्ण स्वतंत्रता को राष्ट्रीय आन्दोलन का लक्ष्य घोषित किया गया, 26 जनवरी को स्वतंत्रता दिवस मनाने का नारा दिया गया तब उसके प्रति जनता का भारी उत्साह सामने आया। मगर इसके तुरत बाद गाँधी ने अपने 11 सूत्री कार्यक्रम[7] की घोषणा की और कहा कि इन मांगों को स्वीकार करने पर पूर्ण स्वतंत्रता की मांग पर पुनर्विचार किया जा सकता है। यह 11 सूत्री प्रोग्राम कांग्रेस प्रस्ताव के खिलाफ में थी।

उपर वर्णित गाँधीवादी नीति के खिलाफ कांग्रेस के अन्दर का एक तबका इस निष्कर्ष पर आया कि कांग्रेस के अन्दर ही एक पार्टी का गठन किया जाय जो गाँधीवादी सत्याग्रह, ट्रस्टीशिप, अहिंसा की नीतियों और बार-बार जन उभाड़ का इस्तेमाल भारतीय पूँजी के लिए साम्राज्यवाद से समझौता करने की रणनीति पर अंकुश लगा सके। इसी उद्देश्य से और इसी पृष्ठभूमि में कांग्रेस-समाजवादी पार्टी का गठन किया गया।

वास्तव में इस पार्टी का मूल मकसद ही अस्पष्ट वैचारिकता, और दोहरे संगठन के सिद्वान्त पर आधारित था। पार्टी किसी अलग कार्यक्रम, स्वतंत्र सदस्यता आदि के आधार पर नहीं गठित थी, बल्कि कांग्रेस नेतृत्व को वामपंथी दिशा में ले जाने के प्रयास के लक्ष्य को लेकर चल रही थी, इसकी सदस्यता उन्हें ही दी जाने वाली थी जो कांग्रेस के सदस्य थे, वही कार्यक्रम लागू करना था जिसे कांग्रेस तय करती थी आदि। नतीजा हुआ कि पार्टी अपना स्वतंत्र जनाधार, सदस्यता, आन्दोलन की रणनीति आदि नहीं बना सकी। जब भी पार्टी कांग्रेस द्वारा लिए गए कार्यक्रमों पर कुछ स्वतंत्र पेशकदमी की पेशकश करती उस पर अनुशासन भंग करने के आरोप आ जाते। इस तरह की दुविधा के कारण अन्ततः पार्टी में अस्पष्ट वैचारिकता वाले तत्वों का समावेश होता गया और शुरू से पार्टी आन्तरिक द्वन्द्व के कारण परेशान रही, टूटती रही।

फिर भी, इसने अपने शुरूआती काल में राष्ट्रवाद, धर्मनिरपेक्षता, किसानों के हितों के लिए संघर्ष आदि को चलाया मगर सैद्धान्तिकता के स्तर पर आचार्य नरेन्द्र देव की मृत्यु के बाद पार्टी भटकती गई और उस लक्ष्य से ही हट गई जिसके लिए यह गठित की गई थी।

संदर्भ सूची

1. द्रष्टव्य, 1905 के कांग्रेस महाधिवेशन में पारित *'बहिष्कार' और स्वदेशी पर प्रस्ताव।*
2. कमिनटर्न की दूसरी कांग्रेस, 1920 में पारित कालोनियल थेसिस को देखा जा सकता है।
3. अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस, स्थापना सम्मेलन, बम्बे, 1920 सितम्बर
4. कांग्रेस के मद्रास अधिवेशन में पारित प्रस्तावों को देखा जा सकता है।
5. वर्कर्स एण्ड पीजेन्टस पार्टी द्वारा पारित प्रस्ताव *ए-कौल टू एक्शन, 1928*
6. नेहरू कमिटी रिपोर्ट, 1928.
7. रजनी पाम दत्त, *इन्डिया* टुडे, कलकत्ता, मनीषा ग्रंथालय, 1997, पृ. 374.

मुद्राराक्षस मे वर्णित राजनीति एवं कूटनीति

नमिता कुमारी

महाकवि विशाखदत्त की अमर कृति 'मुद्राराक्षस' संस्कृत-साहित्य में अपने ढंग का अकेला नाटक है। इतिहास एवं राजनीति का सुन्दर समन्वय इसकी मौलिक विशेषता है। वस्तुतः मुद्राराक्षस की समता अन्य किसी भी नाटक के साथ नहीं की जा सकती। जिस वस्तु का विश्लेषण इस नाटक में हुआ है, वह अन्यत्र कहीं भी देखने को नहीं मिलती। मुद्राराक्षस में सर्वत्र राजनीति और कूटनीति का विवेचन प्राप्त होता है। नाटककार ने अर्थशास्त्र की सैद्धान्तिक राजनीति को व्यावहारिक रूप देते समय अपनी प्रतिभा के द्वारा उसमें काफी हेर-फेर किया है और कहीं-कहीं पर तो वह कौटिल्य की राजनीति को भी परास्त करता हुआ प्रतीत होता है।

मुद्राराक्षस में राजनीति का आरंभ नाटककार ने नान्दी पद्यों में ही कर दिया है। प्रथम नान्दी पद्य में ही राजनीतिक उद्देश्य स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। प्रथम पद्य में नाटककार ने शिव की शठता के व्याज से चाणक्य की शठता की ओर इंगित किया है। जिस तरह शिव का शरीर 'शिव', और 'घोर' दो प्रकार का होता है, उसी तरह ऋजुनीति और कुटिल नीति दो प्रकार की नीतियां होती हैं। आगे चाणक्य कुटिल नीति का प्रदर्शन करता हुआ परिलक्षित होता है और उसे चन्द्रगुप्त के राज्य की रक्षा के लिए कितनी सावधानियां बरतनी पड़ती हैं, यह भी इससे द्योतित होता है। नाटककार इस पद्य के द्वारा प्रभुशक्ति और मन्त्रशक्ति में सापत्न्य की उद्भावना करके कुछ विचित्र प्रकार के चमत्कार को प्रदर्शित करता है।

मुद्राराक्षस के दूसरे नान्दी पद्य में नाटककार अर्धनारीश्वर त्रिपुरविजयी शिव के ताण्डव नृत्य का वर्णन करता हुआ किसी अनिर्वचनीय शोभा को उत्पन्न करता है। जिस प्रकार शिव ताण्डव नृत्य करते हुए संसार के किसी अंश का भी अहित नहीं हो जाये, इस बात को चाहते हैं, उसी प्रकार चाणक्य भी बिना रक्तपात या किसी को कष्ट दिए राक्षस को अपने पक्ष में मिला लेना चाहता है और एतदर्थ उसी भी शिव के समान ही काफी सोच-विचार कर कार्य करना पड़ता है। चाणक्य चन्द्रगुप्त के राज्य की दृढ़ता के साथ-साथ राक्षस के प्राणों को भी बचाना चाहता है। भागुरायण उसी के शब्दों को कह उठता है-

रक्षणीया राक्षसस्य प्राणा इत्यार्योपदेशः।[1]

पुनश्च नान्दी के अनन्तर सूत्रधार आकर अपनी नटी को बुलाते समय कहता है -

गुणवत्युपायनिलये स्थितिहेतोः साधिके त्रिवर्गस्य।
मद्भवननीतिविद्ये कार्य्याचार्ये द्रुतमुपेहि।।[2]

इस पद्य में सूत्रधार और नटी से संबंधित अर्थ का द्योतन तो होता ही है, साथ ही चाणक्य से सम्बन्धित अर्थ की ओर भी संकेत मिलता है। चाणक्य के पक्ष में इसका अर्थ होगा - 'गुणवती, उपायों से युक्त, त्रिवर्ग को सिद्ध करने वाली एवं कर्तव्यों को बतलाने वाली मेरी नीति-विद्या तुम शीघ्र ही आओ।'

कौटिलीय अर्थशास्त्र में छः गुण माने गये हैं - सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव।[3] साम, दाम, दण्ड और भेद ये चार उपाय प्रसिद्ध हैं। धर्म, अर्थ और काम - ये त्रिवर्ग हैं। इस पद्य के द्वारा यह सूचित होता है कि चाणक्य की नीति विद्या छः राजनैतिक गुणों एवं चार उपायों से युक्त है तथा वह त्रिवर्ग को सिद्ध करने वाली है। 'मद्भवनीतिविद्ये' से स्पष्ट होता है कि पूरे नाटक में राजनीति का ही प्रयोग हुआ है।

मुद्राराक्षस में नायक चाणक्य द्वारा अपनी अशरीरिणी नायिका राजनीति को कार्यसिद्धि के लिए बुलाता है। प्रस्तुत नाटक में कोई नायिका नहीं है, अतः राजनीति को ही नायिकावत् माना जा सकता है। चाणक्य के हृदय में और किसी के लिए स्थान भी नहीं है। आगे वह कूटनीति-सम्पन्न अपनी बुद्धि मात्र को ही अपने हृदय प्रदेश में निवास करने के लिए कहता है -

एका केवलमर्थसाधनविधौ सेनाशतेभ्योधिका
नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्यमहिमा बुद्धिस्तु मागान्मम।।[4]

नाटक के तृतीय अंक में जब हम फिर चाणक्य को अपने गृह में देखते हैं, उस समय भी वहाँ पर किसी धर्मचारिणी का हमें दर्शन नहीं होता है, अपितु उसकी अशरीरिणी नायिका राजनीति ही हमें देखने को मिलती है। चाणक्य की राजनीति जिस प्रकार उसकी सहधर्मिणी है, वैसी सहधर्मिणी कोई अन्य स्त्री भी नहीं हो सकती है। राजनीति के प्रति उसके हृदय में अपार प्रेम परिलक्षित होता है। उसका गार्हस्थ्य जीवन स्वार्थसाधन के लिए नहीं, अपितु लोककल्याण के लिए है और वह कल्याण का कार्य राजनीति की सहायता से ही करता है।

नाटक की प्रस्तावना के अनन्तर जब चाणक्य रंगमंच पर आता है, उसी समय वह अपनी राजनीतिज्ञता का उद्घोष करता है। वह कहता है कि कौन ऐसा व्यक्ति है जो मुझसे चन्द्रगुप्त को अलग कर देने की क्षमता रखता है। उसके अनुसार किसी के द्वारा चन्द्रगुप्त का नाश करना उसी प्रकार असंभव है, जिस प्रकार कोई व्यक्ति ऐसे सिंह के दांतों को निकाल लेना चाहे, जिसने अभी-अभी मारकर किसी गजराज के खून का पान किया है।[5] वह इस बात का उद्घोष करता है कि राक्षस के लिए चन्दगगुप्त के राज्य को छीन लेना सर्वथा असम्भव है।

कूटनीतिविशारद चाणक्य अपनी फलसिद्धि को अपनी मुट्ठी के अन्दर ही मानता है और ऐसी स्थिति में वह अपने कर्तव्य को ही प्रधान मानता है और भाग्य को निरर्थक घोषित करते हुए कहता है - 'दैवमविद्वान्सः प्रमाणयन्ति'[6]। यहाँ विशाखदत्त का चाणक्य राजनीतिज्ञ चाणक्य के सिद्धान्तों को स्वीकार करता हुआ प्रतीत होता है।[7] चन्द्रगुप्त की राजलक्ष्मी को सुदृढ़ करने के लिए वह राक्षस को अपने पक्ष में मिला लेना अत्यावश्यक समझता है और उसी प्रधान फल को प्राप्त करने के लिए वह सदा सचेष्ट रहता है। वह इस फलप्राप्ति के बीच में आने वाली छोटी-छोटी बाधाओं को भी उपेक्षणीय नहीं मानता है। वह 'न क्षुद्रोपि शत्रुरुपेक्षणीयः' इस तथ्य को स्वीकारता हुआ कह उठता है - 'तथापि न युक्तं प्राकृतमपि रिपुमवज्ञातुम्।'[8] इसी कारण वह सदा सर्वदा अपने शत्रु पक्ष को सम्मुखस्थित ही समझता है।

प्रस्तुत नाटक में विशाखदत्त ने चाणक्य को इस रूप में चित्रित किया है, मानो उसकी नजर के सामने ही उसका प्रधान शत्रु राक्षस विद्यमान है। वह अपने शत्रु को अपने सामने कीड़े-मकोड़े के समान समझता है और कहता है -

उल्लंघयन् मम समुज्ज्वलतः प्रतापं
कोपस्य नन्दकुलकाननधूमकेतोः।
सद्यः परात्मपरिमाणविवेकमूढः
कः शालभेन विधिना लभतां विनाशम्।।[9]

सम्पूर्ण मुद्राराक्षस में विशाखदत्त ने चाणक्य के ही व्याज से अपनी राजनीतिज्ञता को प्रकटित किया है। वह चाणक्य अपनी प्रखर प्रतिभा के द्वारा लोगों के हृदयस्थ भावों को भी ठीक-ठीक रूप में जान जाता है। चाणक्य जिस किसी का भी कल्याण करता है, उसका सर्वविध कल्याण चाहता है और उसकी सिद्धि के लिए पाप-पुण्य आदि की ओर वह ध्यान नहीं देता है। उसके अनुसार राजनीति में धर्म-अधर्म कोई चीज नहीं होती है, बल्कि किस प्रकार से अपने कार्य की साधना हो, वही एकमात्र वस्तु होती है। वह जानता है कि केवल दुष्टों के विनाश से ही राज्यलक्ष्मी स्थिर नहीं हो जाती है, अपितु उसकी दृढ़ता के लिए प्रज्ञावानों का सहयोग भी अपेक्षित है। वह इस बात से अभिज्ञ है कि नीतिविशारद और कर्तव्यपरायण राक्षस की नन्दवंश के प्रति प्रगाढ़ भक्ति है। नन्दसेवासक्त राक्षस चन्द्रगुप्त के लिए जब तक अनुकूल नहीं हो जाता है, तब तक चन्द्रगुप्त की लक्ष्मी स्थिर नहीं हो सकती है। प्रजा एवं राजा का हित चाहने वाला चाणक्य जानता है कि बृहस्पति के समान बुद्धि वाले राक्षस को चन्द्रगुप्त के पक्ष में लाना होगा और इसी बात का निर्देश करते हुए विशाखदत्त चाणक्य के मुख से कहलवाते हैं -

''अथवा अगृहीते राक्षसे किमुत्खातं नन्दवंशस्य? किं वा स्थैर्यमुत्पादितं चन्द्रगुप्तलक्ष्म्याः। अहो! राक्षसस्य नन्दवंशे निरतिशयो भक्तिगुणः, स खलु कस्मिंश्चिदपि जीवति नन्दान्वयावयवे वृषलस्य साचिव्यं ग्राहयितुं न शक्यते। तदभियोगं प्रति निरुद्योगोऽस्माभिरवस्थापयितुं शक्य इति।'[10]

प्रथम अंक स्थित चाणक्य का गुप्तचर प्रवेश करके कहता है कि जिस यमराज से सभी डरते हैं, उसी यमराज के द्वारा मेरी जीविका चलती है। मात्र उसी यमराज की सेवा ही करनी चाहिए, क्योंकि वही मृत्यु का देवता है और दूसरे देवों के भक्तों का भी प्राण हर लेता है -

प्रणमत यमस्य चरणौ किं कार्यं देवैरन्यैः।
एष खल्वन्यभक्तानां हरति जीवं परिस्फुरन्तम्।।
पुरुषस्य जीवितव्यं विषमाद् भवति भक्तिगृहीतात्।
मारयति सर्वलोकं यस्तेन यमेन जीवामः।।[11]

यहाँ वस्तुतः गुप्तचर यम के व्याज से चाणक्य की ओर संकेत कर रहा है और सूचित करता है कि राक्षस आदि की सेवा करने वाले व्यक्तियों का भी चाणक्य प्राणहरण कर लेता है। अतः उसे चाणक्य की ही सेवा करनी चाहिए। यहाँ गुप्तचर राजभक्तों की भक्ति को और अधिक सुदृढ़ करने की ओर संकेत करता है।

गुप्तचर निपुणक चाणक्य को राक्षस की अंगूठी प्रदान करता है। राक्षस की इसी अंगूठी की प्राप्ति से चाणक्य अपना कार्य सिद्ध कर लेता है और अन्त में राक्षस को आत्मसमर्पण करके चन्द्रगुप्त का

मन्त्रित्व स्वीकार करना पड़ता है। राक्षस की मुद्राप्राप्ति के अनन्तर चाणक्य सोचता है कि इसी अंगूठी के द्वारा मुझे राक्षस को अपने वश में करना है।

वह अपनी नीति को सफल बनाने के लिए एक कूटनीतिक राजपत्र लिखना चाहता है, परन्तु वह अपने अक्षरों में उसे नहीं लिखता है अपितु राक्षस के अभिन्न मित्र शकटदास से लिखवाता है। पत्र लिखने के समय वह कहता है - ''किमत्र लिखामि? अनेन खलु लेखेन राक्षसो जेतव्यः।'' फिर शकटदास द्वारा लिखित पत्र को देखकर कहता है - ''अहो दर्शनीयताक्षराणाम्।''[12]

मुद्राराक्षस के द्वितीय अंक में आया हुआ गुप्तचर विराधगुप्त वादक एवं कुशीलव प्रकार का गुप्तचर है। विराधगुप्त के द्वारा वर्णित भूतकालीन घटनाओं में भी अनेक ऐसे गुप्तचरों का नाम आता है, जो राक्षस के द्वारा चन्द्रगुप्त के वध के लिए नियुक्त किये गये हैं। उन अनेक गुप्तचरों की असफलता के विषय में राक्षस का कहना है -

कन्या तस्य वधाय या विषमयी गूढं प्रयुक्ता मया
दैवात्पर्वतकस्तया स निहतो यस्तस्य राज्यार्धहृत्।
ये शस्त्रेषु रसेषु च प्रणिहितास्तैरेव ते घातिता
मौर्यस्यैव फलन्ति पश्य विविधश्रेयांसि मन्नीतयः।।[13]

इसी प्रकार सम्पूर्ण मुद्राराक्षस राजनीति एवं कूटनीति के अनमोल रत्नों से भरा पड़ा है। तृतीय अंक की ही नहीं, अपितु पूरे मुद्राराक्षस की मुख्य-मुख्य घटना विशाखदत्त की कूटनीतिज्ञता का द्योतक है। द्वितीय अंक में राक्षस के द्वारा किये जा रहे प्रयत्नों को देखने से प्रतीत होता है कि चाणक्य अपने कार्य में सफल नहीं हो सकेगा, परन्तु तृतीय अंक स्थित कृतक-कलह के द्वारा एक बार फिर स्पष्ट हो जाता है कि चाणक्य का पलड़ा ही भारी है।

इस प्रकार की कल्पना विशाखदत्त की मौलिक कल्पना का प्रतीक है, क्योंकि अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों में कृतक कलह आदि की चर्चा नहीं आयी है। यह कलह कौमुदी-महोत्सव के अवसर पर हुआ है। कौमुदी-महोत्सव पहले आश्विन या कार्तिक महीने में मनाया जाता था और वात्स्यायन ने इसे 'कौमुदी-जागर' नाम से अभिहित किया है। कौमुदी महोत्सव के अवसर पर किये जा रहे कलह की सफलता के विषय में चाणक्य कहता है -

मद्भृत्यैः किल सोऽपि पर्वतसुतो व्याप्तः प्रतिष्ठान्तरै-
रुद्युक्ताश्च नियोगसाधनविधौ सिद्धार्थकाद्याः स्पशाः।।
कृत्वा सम्प्रति कैतवेन कलहं मौर्येन्दुना राक्षसं
भेत्स्यामि स्वमतेन भेदकुशली ह्येष प्रतीपं द्विषः।।[14]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मुद्राराक्षस नाटक में मन्त्रशक्ति की प्रभुता सिद्ध की गयी है। राजतन्त्र तभी सुदृढ़ हो सकता है, जब प्रभुशक्ति का मन्त्रशक्ति पर पूर्ण प्रभाव हो और मंत्रशक्ति का प्रभुशक्ति पर विश्वास। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि नन्द साम्राज्य प्रभुशक्ति की उद्धतता के कारण विनष्ट हो गया और मौर्यसाम्राज्य मंत्रशक्ति से युक्त होकर प्रभुशक्तिसम्पन्न हुआ।

सन्दर्भ-सूची

1. मुद्राराक्षस, पृ. 218
2. वही, 1.5
3. अर्थशास्त्र, 7.1, पृ. 160
   सन्धिविग्रहासनयानसंश्रयद्वैधीभावाः षाड्गुण्यमित्याचार्याः।
4. मुद्राराक्षस, 1025
5. वही, 1.8
   आस्वादितद्विरदशोणितशोणशोभां
   सन्ध्यारुणामिव कलां शशलांछनस्य।
   जृम्भाविदारितमुखस्य मुखात्स्फुरन्तीं
   को हर्तुमिच्छति हरेः परिभूय दंष्ट्राम्।।
6. वही, पृ. 160
7. चाणक्यसूत्र, 232
   न त्वरितस्य नक्षत्रपरीक्षा।
8. मुद्राराक्षस, पृ. 40
9. वही, 1.10
10. वही, पृ. 26
11. वही, 1.17-18
12. वही, पृ. 48
13. वही, 2.16
14. वही, 3.13

हमारे देश पर पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव

मणीष कुमार भारती

शोध छात्र, मानविकी संकाय, संस्कृत विभाग, जयप्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा

पाश्चात्य देशों में सब कामों में सबको समान सुविधा तथा निर्बाध प्रतियोगिता होने के कारण जब उत्तरोत्तर बहुसंख्यक लोगों की भीषण दुर्दशा हो रही है, धनी लोगों ने सारे वाणिज्य-व्यवसाय, शिल्प और कृषिप्रभृति उत्तम धनोपायों को हस्तगत कर लिया है और सब लोग उसके दासत्व में पड़ गये हैं। इसी से यह समझ लेना उचित था कि स्वतंत्र प्रतियोगिता का प्रचार ही गलत है, परन्तु पाश्चात्य लोगों ने साम्यवाद के मोह में पड़कर इसे नहीं समझा-साम्यवाद भी मौलिक भूल है, यह भी उनकी समझ में नहीं आया और इस मौलिक भूल को न समझकर वे गरीबों की तथा स्त्रियों की दुर्दशा दूर करने के लिये नाना प्रकार के उपायों को खोज निकालने लगे। रोग की उत्पत्ति कैसे हुयी-इसका निश्चय न करके, इस ओर ध्यान न देकर, रोग के उपसर्ग को दूर करने की चेष्टा से जैसे रोग नहीं हटता, चाहें कुछ दिनों के लिये रोग के उपसर्ग कुछ कम क्यों न हो जायँ, पर उसके दुष्परिणाम भोगने ही पड़ते है, इस मौलिक तथ्य को ध्यान में रखने के कारण पाश्चात्य स्त्रियों की दुर्दशा दूर करने की चेष्टा हो रही है, उसका भी वैसा ही ऩल हो रहा है।

पश्चिमी देशों में गरीबो की दुर्गति को दूर करने के चार प्रधान उपाय निकाले गये है -

1) श्रमिक और व्यवसाय संघ की स्थापना
2) सहयोग प्रथा
3) समाजवाद
4) तुल्याधिकारवाद या साम्यवाद

यद्यपि साम्यवादी ही सारे वाणिज्य-व्यवसाय, कृषि और शिल्प को राष्ट्रशक्ति के कर्तृत्वाधीन करना आवश्यक बतलाते है, परन्तु अबतक कहीं भी इन धनोपायों को पूर्णतया

राष्ट्रशक्ति के कर्तृत्वाधीन नहीं किया जा सकता है। आजकल समाजवादी वाणिज्य-व्यवसाय और शिल्प के नियमन् मजदूरों के चिकित्सा, सन्तान की शिक्षा-दीक्षा आदि विषयों का नियमन कर मजदूरों की अवस्था को क्रमशः उन्नत करने की चेष्टा कर रहे हैं और धनी तथा अर्थ सम्पन्न लोगो के ऊपर बड़े-बड़े बहुत से टैक्स लगाकर उसका वितरण निर्धन, बेकार और असहाय लोगों में कर रहे हैं। चिकित्सा, शिक्षा और स्वास्थ्यप्रद निवास स्थान का प्रबन्ध कर रहे है। सब मनुष्यों को भोजन वस्त्र का अधिकार है-समाज या राष्ट्रशक्ति उसे देने के लिये बाध्य है, इस प्रकार के सिद्धान्त के प्रसार से ही यह सब होने लगा हैं।

पाश्चात्य देशों में सर्वत्र ही भोगासक्ति बढ़ रही है, लोग अदूरदर्शी हो गये है, सारे समाचारपत्रों में खेल, नाच-गाना, थियेटर सिनेमा की बाते भरी रहती हैं, इन कार्यो में दक्ष तरूण-तरूणियो का योगदान होता है, उनके चित्र प्रकाशित होते है मानों वे ही देश के आदर्श हों। नाच और नाच की भावभंगी ऐसी होती है जो कामवासना को उद्दीप्त करें। संसार से अनभिज्ञ युवक-युवतियों के अंदर इससे मनोविकार उत्पन्न हो रहा है, चरित्रहीना नर्तकी और अभिनेत्री बहुधा लाखों रूपये कमा रही

है। इससे दुसरी युवतियों को उस मार्ग में जाने के लिये प्रलोभन मिल रहा है, देश की नैतिक अवन्नति हो रही है। घर शब्द से अबतक जो समझा जाता था, आज जो भी हम समझ रहे हैं, वह माता-पिता, दादा-दादी, भाई-बहिनों के आदर और स्नेह से सुशोभित शैशव और किशोरावस्था की सुख स्मृति से सम्बन्धित और छोटे-छोटे बच्चों के कलरव से मुखरित गृहवास क्रमशः लुप्त हो रहा है, शैशव से ही बोडिग में वास करना, आगे चलकर नित्य नये होटलों या मेसों में वास करना ही घर है, जिनमें कहीं भी स्थायी अवलम्ब देने वाला त्यागात्मक प्रेम नही अतएव किसी को भी जीवन में शान्ति, सन्तोष और तृप्ति नहीं है-यदि है तो केवल परिचित मात्र, जो सच्चे बन्धु के अभाव में बन्धु का नाम धारण कर रहे हैं, और यदि है तो केवल क्षणिक आमोद और उत्तेजना तथा थोड़े दिनों तक रहनेवाला काम-प्रदत्त मोह । इसी को लोग प्रेम के नाम से पुकार रहे है। जिन लोगों ने कभी सच्चे प्रेम का स्वाद नही लिया, वैसे प्रेम को कही नहीं देखा वे ही इसे प्रेम समझते है। स्त्रियों को पुरूषों के साथ विषम प्रतियोगिता में अर्थोपार्जन करना पड़ता है तथा बुढ़ापे में और बिमारी की दशा में सबको निर्जन कारावास का दुःख भोगना पड़ता है। बुढ़ापे में ही पुत्र और कन्या आदि के द्वारा सेवा-सभाँल और सहायता अत्यन्त आवश्यक होती है, एवं उसी समय इनके प्राप्त होने से जीवन में तृप्ति होती है, पर यह आज प्रायः किसी को प्राप्त नहीं होता। आज तो लोगों को अन्तिम विदा लेनी पड़ती है प्रेमहीन किसी सशुल्क या निःशुल्क सेवासदन में! अन्त समय जिसे देखने के लिये प्राण ब्याकुल रहते हैं ऐसा कोई नहीं रहता है, रहते है केवल वे जो धन या सम्मान के चक्कर मे अन्यत्र घुमते रहते है। इससे अधिक मनुष्य के जीवन का विशेषतः स्त्री के जीवन का दुर्भाग्य और क्या हो सकता है ?

इस देश के युवक-युवती आज पाश्चात्य स्त्रियों की अवस्था को वांछनीय समझते हैं, परन्तु वस्तुतः पाश्चात्य स्त्रियों के समान दुःखिनी स्त्रियाँ और किसी भी देश में नहीं है। प्रेम ही स्त्री का जीवन है, मातृत्व के लिये ही उसकी सृष्टि हुयी है, मातृत्व ही उनके जीवन के सुख का प्रधान स्त्रोत हैं, मातृत्व के लिये वे लालायित होती है, निर्भर के योग्य वे प्रेम की प्रार्थिनी होती हैं-यही नारी का सर्वस्व है और पाश्चात्य स्त्रियाँ आज इसी से वंचित है, अतएव वे सर्वस्व खोयी हुयी महान दुखिया है। श्रीयुत् आनन्दशंकर राय आइ. सी. एस. जिनका पाश्चात्य मोह अबतक दूर नहीं हुआ है, भी अपनी 'पथे प्रवासे' नामक पुस्तक में लिखते है कि 'युवतियाँ जान गयी है कि पुरूषों की संख्या कम होने के कारण अनेको स्त्रियों के भाग्य में विवाह नहीं है तथा अर्थसम्पन्न न होने के कारण मातृत्व भी अनेको के भाग्य में नहीं हैं'। अतएव भाई, जितना हो सके, हँस लो। अत्यन्त घोर ब्यामोह के भीतर युवक और युवतियाँ वास कर रही है-लड़को की आँखों के सामने गणतन्त्र की काली दिशा आ गयी हैं- इक्सवीं सदी के आदर्श आज खेल बन गये हैं- जीवन के पर्दे को उठाकर देखने से पता लगता है कि उसके पीछे कोई लक्ष्य नहीं है। केवल जीवन के आनन्द के लिये ही जीवित रहना पड़ेगा,-हँसने के आनन्द के लिये ही हँसना होगा। इस युग के युवक जितना हँसते है उतना विचार नहीं करते। स्त्रियाँ समझ नहीं रही है कि वोट और आर्थिक स्वतंत्रता ही सबकुछ नहीं हैं-इसके प्राप्त करने के बाद भी जो बाकी रह जाता है, जिसके ऊपर जोर नहीं चलता यह है दुसरे का हृदय। इस युग की स्त्रियों के समान दुःखिनी दुसरी कोई नहीं है। तथापि उन्होनें प्रण कर लिया है कि कुछ भी हो रोयेंगी नहीं, कुछ भी हो हटेंगी नहीं। पुरूष और स्त्री के साम्य को स्वीकार करने से ही पाश्चात्य देशों में स्त्रियों की अत्यन्त दुर्गति हो रहीं है और हम अपनी स्त्रियों को ठीक उसी प्रकार से उन्नत बनाने के लिये चेष्टा कर रहे हैं। इस देश के समाचार पत्रों में पाश्चात्य का अनुकरण करते हुये

अभिनेताओं अभिनेत्रियों और नर्तकियों की सचित्रा कीर्ति-कथा प्रकाशित हो रही है, इससे युवक और युवतियों को उसी प्रकार की कीर्ति प्राप्त करने की प्रेरणा मिल रही है- यही उनकी पाठ्य और आलोचना का प्रधान विषय हो रहा है, जान पड़ता है वे समझते हैं कि इसी से देश की उन्नति होगी! पाश्चात्य देशों में इसी प्रकार का मनोभाव होने के कारण नैतिक अवन्नति हुयी है, धन की प्रधानता बढ़ जाने के कारण साहित्य कला के किसी अंग का उन्नत विकाश देखने में नही आता, सारा देश केवल उन्मत कामवासनाओं से पूर्ण कहानी-उपन्यासों से प्लावित है। आज हमारे इस देश में भी वहीं हो रहा है, इसी से हमारी दुर्गति बढ़ती जा रही है।

समाजवादी देशों में कहीं भी गरीबों की दुर्दशा दूर नहीं हुयी हैं। गरीबों की दुर्दशा होने पर गरीब स्त्रियों की और अधिक दुर्दशा होती है। इसलिये उत्तरोत्तर अधिकाधिक लोगो को विश्वास हो रहा है कि रूस के समान साम्यवादी हुये बिना, धनियों का सर्वस्व नष्ट किये बिना, धन के सारे साधनों को राज्य शक्ति के कर्तृत्वाधीन किये बिना गरीबों की दुर्दशा दूर नही हो सकती। इसी कारण धनियों का पूँजीपतियों के प्रति द्वेष सर्वत्र बढ़ रहा है अर्न्तद्रोह की भी सम्भावना बढ़ रही है। साम्यवादी रूस ने साम्य-स्थापना के लिये सबसे पहले धनी व्यवसायियों पर अमानुषिक अत्याचार कर उन्हें निर्वश निर्वासित कर उनका सारा धन छीन लिया- मानों धनी और पूँजीपति ही नृशंस नरपिशाच थे। केवल बड़े-बड़े धनियों और पूँजीपतियों के ऊपर ही इस प्रकार के अत्याचार नहीं किये गये, बल्कि जो परिश्रम करके जीविका-निर्वाह नहीं करते थे, सर्वसाधरण में जो मध्य श्रेणी के लोग कहलाते थे, उनके ऊपर भी घोर अत्याचार हुये।

भारवि की सूक्तियों में नीति लालित्य

बीणा कुमारी

शोध छात्रा, संस्कृत विभाग, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा

सूक्तियां साहित्य का नवनीत हैं। वैदिक ऋषियों के मौलिक चिंतन को सूक्तों के रूप में वेदों में संकलित किया गया। परवर्ती काल में विकसित सूक्तियों का बीज उन्हीं सूक्तों में है। आगम, त्रिपिटक, और वैदिक वाङ्मय से और प्रतिभामूर्ति कवियों के साहित्य से सूक्तियों के अनेक संकलन तैयार किये गये, जो अत्यधिक लोकप्रिय हुए। सूक्तियां भले ही दिखने में छोटी होती हैं पर प्रभाव गंभीर करती है। इनमें सत्यम्, शिवम, सुंदरम् का मधुर समन्वय होता है। इस प्रकार चमत्कार पूर्ण हृदयवेधी उक्तियों का प्रणयन संस्कृत साहित्य में बहुत वर्षों से होता आ रहा है। कीथ ने स्पष्टतया स्वीकार किया है कि जीवन और सदाचार अथवा नीति से संबंध रखने वाले सारवत् निरीक्षणों को पद्य में प्रकट करने में भारत ने सदा प्रसन्नता का अनुभव किया है।

सूक्तिः व्युत्पत्तिपरक अर्थ-एवं स्वरूप विवेचन

सूक्ति शब्द दो शब्दों के मेल से बना है–सु और उक्ति। सु शब्द अव्यय है। और विभिन्न कोशकारों ने इसका निम्नलिखित अर्थ किया है–निरूक्तकार यास्क ने इसे उपसर्ग के अंतर्गत मानते हुए इसका अर्थ स्वीकृति (पूजार्ह) माना है–सु इतयभिपूजितार्थे।[1]

मेदिनी कोशकार ने पूजा अनुमति आधिक्य समृद्धि काठिन्य आदि अर्थों को सु का द्योतक माना है–सु पूजायां भृशार्थेनुमतिकृच्छसमृद्धिषु।[2]

अमरकोश ने.....पूजने सु[3] अर्थात् पूजार्थक स्वीकार किया है।

अमरकोश टीकाकार (रामाश्रमी) ने सु शब्द को इस प्रकार व्युत्पन्न किया है–यहां 'सु गतौ' एवं सु प्रसवैश्वर्ययोः धातु से विप्रसंम्यो ड्वसंज्ञायाम् 'सूत्र में गठित वार्तिक मितद्रादिम्य उपसंख्यानाम् से डु प्रत्यय होकर सु शब्द बनता है जिसका अर्थ–सुन्दर गति प्रसव, ज्ञान एवं ऐश्वर्य होता है।

वामन शिवराम आप्टे[4] के अनुसार सु निपात का कर्मधारय और बहुब्रीहि समास बनाने के लिये संज्ञा शब्दों से पूर्व जोड़ा जाता है। विशेषण और क्रिया विशेषणों में भी जुड़ता है। इसका अर्थ है–सुन्दर, मनोहर, सर्वथा, अत्यधिक ठीक प्रकार से आदि।

सु का मोनीयर विलियम्स[5] ने संस्कृत अंग्रेजी कोश में इस प्रकार अर्थ किया है–Good, beautiful, well, easy, any, excellent, much, quickly.

उक्ति–उक्ति शब्द अदादिगणीय वच परिभाषणे[6] धातु से 'स्त्रियां क्तिन्'' सूत्र से क्तिन् प्रत्यय एवं 'वाचिस्वपियजादीनां किति' से संप्रसारण करने पर उक्ति शब्द बनता है।

अमरकोशकार ने बचन के छः नामों से उक्ति को बतलाया है.....व्याहार उक्तिर्लपितं भाषितं वचनं वचः।[7]

विविध कोश ग्रंथों[8] में उक्ति के निम्नलिखित अर्थ बताए गए हैं–वाणी, अभिव्यक्ति शब्द, एक मूल्यवान् वाणी, भाषण, कथन, वाक्य, वचन, घोषणा आदि।

इस प्रकार सू के साथ उक्ति के मिलने से सूक्ति शब्द बनता है जिसका अर्थ होता है–सुंदर उक्ति, ज्ञानयुक्त कथन, समृद्धवाणी, सम्मानित वचन, रमणीय अभिव्यक्ति आदि। आप्टेकृत संस्कृत हिन्दीकोश[9] में सूक्ति का अर्थ है–चातुर्यपूर्ण कथन, अच्छा या सौहार्दपूर्ण भाषण आदि।

वाचस्पत्यम् में 'सूक्तिः सुष्ठुतौ[10] अर्थात् सुष्ठु उक्ति को सूक्ति कहा गया है।

मोनीयर विलियम्स[11] ने सूक्ति का अर्थ–Beautiful-verse or stanga, wish saying, A good or friendly speech. किया है।

अलंकारशास्त्र के आचार्यों ने सूक्ति शब्द का प्रयोग कर उसकी अर्थवत्ता एवं महनीयता का निर्देश किया है। महाकवि दण्डी ने काव्यादर्श में सेतुबंध की उत्कृष्टता का वर्णन करते हुए लिखा है कि महाराष्ट्री प्राकृत में सूक्ति रत्नों के सागर सेतुबंध आदि काव्यों की रचना हुई–

सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धाति यन्मयम्।[12]

वक्रोक्तिजीवितकार आचार्य कुन्तक ने सूक्ति को कवि की अभिव्यक्ति में उत्कृष्ट सहायिका माना है।

औचित्य मार्ग के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र सूक्तियों में विचार का अधिक महत्व बतलाते हैं–उचित विचार से सूक्तियां चारूता प्राप्त करती हैं, वैसे ही जैसे ज्ञातव्य तत्त्वों के ज्ञान से मनीषियों की विद्या–

उचितेन विचारेण चारूतां यान्ति सूक्तय :

वेद्यतत्त्वावबोधेन विद्या इव मनीषिणाम् ।।[13]

भोजदेव ने श्रृंगार प्रकाश में लिखा है–तेषु उक्ति प्रधान काव्यम् ।[14]

आचार्य राजशेखर ने सूक्तियों को कवियों के लिये समुद्र में पोत के समान माना है।[15]

कर्पूरमंजरी में राजशेखर ने विशिष्ट उक्ति अर्थात् सूक्ति को काव्य माना है–उत्ति विसेसो कव्वं।[16]

इस प्रकार सूक्ति का अर्थ वह वचन या उक्ति है जो संक्षिप्त होते हुए भी गंभीर अर्थवत्ता को धारण करे, चातुर्य पूर्ण उक्ति, जिसका प्रभाव विलक्षण हो।

सूक्ति संघटना के दो अंग हैं–बाह्य और आंतरिक। सूक्ति के बाह्य रूप में प्रयुक्त अलंकार छन्द भाषा शैली में आते हैं। इनके आधार पर सूक्तियों के कापक्ष को उजागर किया जाता है। सूक्ति का बाह्य रूप कवि की काव्य प्रतिभा का परिचायक है। वहीं सूक्ति के आंतरिक रूप में भावों और विचारों का स्थान है।

संस्कृत महाकाव्यों के इतिहार में महाकवि भारवि किरातार्जुनीयम् महाकाव्य के रचयिता के रूप में विख्यात हैं। उन्होंने महाकाव्य के विचित्र मार्ग या कलावाद का प्रवर्तन किया जिसमें भाव पक्ष की अपेक्षा कला पक्ष पर ही विशेष बल रहता है। पाण्डित्य प्रकर्ष की अभिव्यक्ति और मूल विषय का त्याग करके लम्बे वर्णनों में उलझ जाना इस मार्ग की विशिष्टता है।

भारवि की काव्यशैली सामान्यत: वैदर्भी है, जिसमें अल्प समास का प्रयोग होता है। शास्त्रीय वैदुष्य और पाण्डित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति भी भारवि में बहुत अधिक है। किन्तु इस समस्त कृत्रिमता के मध्य उनमें भावों को अभिव्यक्त करने की अद्‌भुत क्षमता है, जो सामान्य स्थलों में विपुल रूप से प्राप्त होती है। भावों के अनुरूप ही इन्होंने काव्य कला का प्रयोग किया है। राजनीति जैसा शुष्क विषय हो या शरद वर्णन जैसा सरल विषय भारवि की भाषा-शैली रुक्षता नहीं छोड़ती। यही कारण है कि मल्लिनाथ ने इनकी वाणी को 'नारिकेलफलसम्मित' कहा है।

भारवि ने अपने व्यावहारिक और शास्त्रीय अनुभव के द्वारा न जाने कितने नैतिक सिद्धांतों की स्थापना की है अपने भावों की गरिमा से अर्थ गौरव से भरी हुई कविता से न जाने कितने व्यक्तियों का जीवन-दर्शन किया है, मार्ग प्रशस्त किया है। भारवि की शास्त्रगत व्युत्पत्ति के अतिरिक्त लोकानुभव का प्रकृष्ट परिचय उनकी सूक्तियों से प्राप्त होता है। उनके सुभाषित शास्त्रों पाण्डित्य से मण्डित तथा व्यापक अनुभूतियों से समन्वित है। उनमें नीति, राजनीति तथा सामान्य जीवन से संबद्ध सूक्तियों का भण्डार है। इन सूक्तियों में अर्थ गौरव की महता अंकित करके सहृदय समीक्षकों ने एक उक्ति प्रचलित कर दी है–'भारवेरर्थगौरवम्' अर्थात् अर्थगौरव वह काव्य गुण है, जिसमें अल्पतम शब्दों में व्यापक अर्थ को प्रकाशित करने की क्षमता हो।[17]

भारवि के काव्य में नीति, राजनीति तथा सामान्य जीवन से संबद्ध सूक्तियों में यह गुण प्रचुर परिमाणा में विद्यमान है। जिसमें जीवन का शाश्वत सत्य एवं अनुभव छिपा है। भारवि ने अर्थ गौरव की उत्कृष्टता के लिये उन शाशवत सत्यों को अपनी सूक्तियों के माध्यम से दिखलाने का एक सफल प्रयास किया है।

भारवि की नीति से संबंध सूक्तियां

भारवि स्वयं राजनीतिज्ञ थे। अत: उनके काव्य में नीतिपूर्ण युक्त सूक्तियां नूतन प्रेरणादायक है। किरातार्जुनीयम् के द्वितीय सर्ग में नीति से सबद्ध अनेक पद्य हैं। भारवि के मत में नीतिशास्त्र बहुत दुर्गम है फिर भी इसमें लोग प्रवेश करते ही हैं क्योंकि इसमें प्रवेश करने के लिये गुरुओं ने मार्ग बनाये हैं। जलाशय में प्रवेश करने के लिये सोपान बना दिये जाने पर सभी लोगों का अवगाहन सरल हो जाता है वैसे ही भयावह नीतिशास्त्र की स्थिति है। किन्तु वह व्यक्ति दुर्लभ होता है जो कृत्य (नीतिशास्त्र पक्ष में-करने योग्य कार्य, जलाशय पक्ष में स्नानादि) के लिये उक्ति मार्ग बताये। नीतिक्षेत्र में उस व्यक्ति का महत्व है जो समय पर कर्तव्य के विषय में सही परामर्श दे। जलाशय के पक्ष में वह व्यक्ति महत्वपूर्ण है जो जलाशय में सोपान बना दे, स्नान करने वाले तो अनेक होंगे।

विषमोऽपि विगाहयते नय: कृततीर्थ: पयसामिवाशय: ।

स तु तत्र विशेष दुर्लभ: सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्मय: ।।[18]

भारवि ने एक और नीतिपूर्ण तथ्य स्पष्ट किया है वह यह है कि विद्वान लोग किसी की वाणी के गुणों का ग्रहण करते हैं वे यह नहीं देखते कि यह किस वक्ता की वाणी है (स्त्री की बात है या कि पुरुष की ननु वक्तृविशेषनि: स्पृहा गुणगृह्या वचने विपश्चित: ।[19])

भारवि की राजनीति विषयक सूक्तियां

भारवि राजनीति के विशिष्ट ज्ञाता हैं। इसलिए तद्विषयक सूक्तियां भी उन्होंने अनेकानेक दी हैं–

भारवि 'शठे शाठ्यं समाचरेत' की नीति के अनुयायी हैं इसीलिए वे कहते हैं कि मूर्ख बुद्धि से वे मनुष्य पराजित होते हैं, जो दुष्टों के साथ दुष्टता का व्यवहार नहीं करते, क्योंकि कवच रहित शरीर में बाण जिस प्रकार प्रविष्ट होकर मानव की मृत्यु का कारण बनता है, उसी प्रकार दुष्ट दूसरों के विनाश का कारण होता है। अतः शठ के साथ शठ्ता का आचरण करना चाहिए–

ब्रजन्ति ते मूढ़धियः परामवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः। प्रविश्य हि ध्वन्ति शाठस्तथ विधान संवृतागन्निशिता इषवेवः।[20]

भारवि के अनुसार युद्ध में विजय की प्राप्ति पराक्रम पर ही आश्रित होती है अर्थात् युद्ध में विजय शक्ति साधन संपन्न और पराक्रमी व्यक्तियों को ही मिलती है–प्रकर्षतत्रा हि रणे जय श्रीः।[21]

कई परिस्थितियों में मानव मन का क्षोभ क्रोध शून्य व्यक्ति का न मित्र ही आदर करता है और न शत्रु ही उससे डरता है–

अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जात हार्देन न विद्विषादरः।[22]

भारवि का यह कथन राजाओं के लिये कितना सत्य है कि महापुरुषों का यह स्वभाव होता है कि दूसरों की उन्नति सहन नहीं करते हैं अर्थात् वे दूसरों के अम्युदय को सह नहीं पाते–प्रकृतिः रवु सा महीयसः सहते नान्यसमुन्नति यया।[23]

भारवि ने निस्तेज व्यक्ति के संबंध में इस सूक्ति के माध्यम से बताया है कि उसके पास स्वाभिमान कहां से होगा–तेजोविहीन विजहाति दर्पः।[24]

भारवि की सामान्य जीवन से संबंद्ध सूक्तियां–व्यक्ति की वाणी उसके भावों और प्रतिक्रियाओं को व्यक्त करने का सार और प्रमुख माध्यम है। वह जो कुछ प्रकाशनीय मानता है उसी को कहना चाहता है गोपनीय को नहीं। लेकिन भारवि ने जीवन के अनुभव से अच्छी तरह जान लिया है कि हितकारक वाणी कभी मनोहर और मीठी नहीं हो सकती है। उसमें कटु सत्य होगा जो कि सुनने वाले को तीखी छुरी की तरह लगेगा। अतः उनका कथन है कि ऐसी वाणी दुर्लभ है जो हितकर होने के साथ मन के अनुकूल भी हो–हितं मनोहारि च दुर्लभ वचः।[25]

भारवि कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को हमारी वाणी प्रियलगे, यह आवश्यक नहीं है सब व्यक्तियों की सुंदर लगने वाली वाणी दुर्लभ है–सुदुर्लभाः सर्व मनोरमा गिरः।[26]

भारवि का कहना है कि सज्जनों का संसर्ग विश्वास की भूमि है, सज्जनों के साथ शीघ्र ही विश्वास उत्पन्न हो जाता है–विश्वासयत्याशु सतां हि योगः।[27]

भारवि का मानना है कि सज्जनों की वाणी सदैव प्रिय भाषण ही करती है–सतां हि वाणी गुणमेव भाषते।[28]

भारवि ने एक और भी महत्वपूर्ण तथ्य स्पष्ट किया है कि वह यह है कि सज्जन व्यक्ति से यदि विरोध भी होता है तो वह अच्छा ही है, उसके अपने दोष तो पता चलते ही हैं, अहित की संभावना

कम रहती है। तात्पर्य है कि नीचों की संगति की अपेक्षा बड़े लोगों से विरोध कहीं अच्छा है, क्योंकि उससे ऐश्वर्य की सिद्धि होती है–समुन्नयन भूतिमनार्य संगमाद् वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः ।[29]

भारवि का मानना है कि बलवान् व्यक्तियों से विरोध करने पर अंत तो कष्टकर होगा ही–अहो दुरन्ता बवद् विरोधिता।[30]

भारवि का कहना है कि बिना विचारे अर्थात् अकस्मात् कोई काम नहीं करना चाहिए क्योंकि अविवेक विपत्ति का कारण है। विचारवान व्यक्तियों को संपत्तियां वरण करती हैं–

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।[31]

कई बार परिस्थिति या मनोदशा के अवस्थ होने पर या किसी अन्य कारण से मानव मन की स्वाभाविक अवस्था में कुछ परिवर्तन आ जाता है। उस समय वह किसी भाव या विकार से युक्त हो जाता है। हर कोई विकारग्रस्त हो सकता है और इसमें कोई अस्वाभाविकता नहीं भारवि का भी कहना है कि ईर्ष्याग्रस्त व्यक्तियों के चित्त सज्जनों के प्रति भी द्वेष युक्त ही रहते हैं–मात्सर्य रागो पहतात्मनां हि स्खन्ति साधुष्वपि मानसानि।[32]

चित्त की गतियां विविध हैं जिसमें बहुत कुछ गोपनीय है और व्याकुताएं हैं। चित्त की वृत्तियां विचित्र रूपों वाली हैं। भारवि का कहना है कि इन्द्रियों के विषय तो अपनी प्राप्ति के समय ही अच्छे लगते हैं, अंतिम अवस्था में वे सन्ताप ही देते हैं–आपातरम्या विषयाः पर्यन्तपरितापिनः[33]

भारवि यह भी जानते हैं कि शत्रु का विनाश उसे भोग विलास में आकृष्ट कर सहज ही किया जा सकता है–कामा कष्टा हि शत्रवः[34]

भारवि का कहना है कि कामी जन सर्वदा गुणों की क्रमशः अधिकता की खोज करते रहते हैं उपस्थिति गुणों से संतुष्ट नहीं होते–यथोत्तरेच्छा हि गुणेषु कामिनः ।[35]

मानव अपने गुणों से श्रद्धा, मान-सम्मान पाता है विशालाकृति से नहीं विशाल आकृति भय उत्पन्न कर सकती है सम्मान नहीं। सम्मान गुणों से ही प्राप्य है–

गुरूतां नयन्ति हि गुणः न संहतिः ।[36]

पुनः भारवि कहते हैं कि मानव अपने परिचय से प्रिय नहीं बनता है अपितु उसके गुण ही उसे आदर सम्मान और स्नेह दिलाते हैं–गुणाः प्रियत्वेऽधिकृताः न संस्तवः ।[37]

भारवि का मानना है कि प्रेम में गुण बसते हैं किसी भौतिक पदार्थ में नहीं–

बसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि ।[38]

भारवि का कहना है कि संसार में सौंदर्य की प्राप्ति कठिन नहीं है, किन्तु गुणों की प्राप्ति बहुत कठिन है–सुलभा रम्यता लोके दुर्लभं हि गुणार्जनम् ।[39]

भारवि के इस सूक्ति से परस्पर संबंध एवं आत्मीयता का बोध इस प्रकार होता है: अपने बान्धव को कोई न भी पहचान पाये तथापि उसे देखकर मन में प्रबल हर्षोद्रक होता ही है–अविज्ञातेऽपि बन्धौ हि बलात्प्रह्लादते मनः[40]

भारवि का मानना है कि किसी उद्देश्य का अंतिम परिणाम क्या होगा, यह जानना कठिन है दुरधिगमा हि गतिः प्रयोजनानाम्।[41] भारवि का यह कटु अनुभव है कि सभी लोग अपने वर्ग का हित

चाहते हैं–आत्मवर्गहितमिच्छति सर्व: ।[42] और सभी लोग निरापद स्थान पर रहना चाहते हैं–वस्तुमिच्छति निरापदि सर्व:।[43]

भारवि की एक अन्य महत्व सूक्ति जिसमें वे संपूर्ण समस्याओं का हल सहिष्णुता और क्षमा से देखते हैं। उनका कहना है क्षमा के समान अन्य कोई साधन नहीं है–न तितिक्षा सममस्ति साधनम् ।[44]

इस प्रकार भारवि की समस्त सूक्तियां उनके शास्त्रीय पाण्डित्य से मण्डित तथा व्यापक अनुभूतियों से समन्वित हैं। उनकी नीतियां जीवन के सभी पक्षों पर पथ-प्रदर्शन करती मिलती हैं। यथावसर लोकनीति, राजनीति, कूटनीति इनके काव्य में भास्वर मणि की भांति अवस्थित है। कहीं उपमा अलंकार के द्वारा, कहीं अर्थान्तरन्यास, कहीं काव्यलिंग आदि अलंकारों के द्वारा साहित्यिक आभा से ओत-प्रोत होकर 'किरातार्जुनीयम्' में उल्लिखित है। अपनी उपादेयता के कारण इसे सूक्ति शब्द की संज्ञा दी गई है। इन सूक्तिभूत नीतियों का संकलन, स्पष्टीकरण एवं आलेखन इस शोध पत्र का एकान्त उद्देश्य है। निस्संदेह जीवन के प्रत्येक मोड़ पर इनकी सूक्तियां उपादेय, अनुकरणीय और प्रशंसनीय हैं।

संदर्भ

1. यास्कविरचित निरूक्त 1.3
2. मैदिनीकोश–185.79
3. अमरकोश 3.4.5
4. संस्कृत हिन्दी कोश (आप्टे/पृष्ठ 1109)
5. संस्कृत अंग्रेजी कोश (मोनीयार विलयम्स) 1219
6. संकृत धातु कोश पृष्ठ-109
7. अमरकोश 1.6.1
8. संस्कृत हिन्दी कोश (आप्टे) पृष्ठ 181
   संस्कृत अंग्रेजी कोश (मो.वि) पृष्ठ 172
9. संस्कृत हिन्दी कोश (आप्टे) पृष्ठ 1109
10. वाचस्पत्यम् खण्ड 6, पृष्ठ 532
11. संस्कृत अंग्रेजी कोश (मो.वि) पृष्ठ 1240
12. काव्यादर्श (दण्डी)1.34
13. औचित्य विचार चर्चा पृष्ठ 37
14. श्रृंगार प्रकाश, पृष्ठ 109
15. काव्यमीमांशा दशम् अध्याय
16. राजशेखर विरचित कर्पूरमंजरी 1.7
17. संस्कृत साहित्य का इतिहास पृष्ठ 250
18. किरातार्जुनीयम्–2/3
19. किरात–2/5
20. किरात–1/30
21. किरात–3/17

22. किरात–1/33
23. किरात–2/21
24. किरात–17/16
25. किरात–1/4
26. किरात–14/5
27. किरात–3/31
28. किरात–14/11
29. किरात–1/8
30. किरात–1/23
31. किरात–2/30
32. किरात–3/53
33. किरात–11/12
34. किरात–11/35
35. किरात–8/4
36. किरात–12/10
37. किरात–4/25
38. किरात–8/27
39. किरात–11/11
40. किरात–11/8
41. किरात–10/40
42. किरात–9/64
43. किरात–9/16
44. किरात–2/43

द्विवेदी युग की पत्रकारिता: एक विवेचन

पूजा कुमारी

शोध छात्रा (हिन्दी), जयप्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा

भारतेन्दु युग के पश्चात् द्विवेदी-युग में पत्र-पत्रिकाओं की आशातीत प्रगति हुई। विभिन्न देशी-विदेशी घटनाओं, स्वतंत्रता-संग्राम में अहम भूमिका निर्वाह करने वाली संस्था अखिल भारतीय काँग्रेस में उग्रवाद के जन्म, स्वदेशी आन्दोलन की गतिविधियों, लार्ड कर्जन की त्रुटिपूर्ण नीति, मुस्लिम लीग के जन्म, विभिन्न सुधारवादी संस्थाओं के उदय, सन् 1905 ई० में जापान द्वारा रूस की पराजय आदि घटनाओं से भारत के बुद्धिजीवी वर्ग का मन आन्दोलित हो उठा। नवबौद्धिक वर्ग ने देश को स्वतंत्र करने और समाज-सुधार हेतु पत्र-पत्रिकाओं का सहारा लिया। देश के विभिन्न भागों से नयी-नयी पत्र-पत्रिकाएँ निकलने लगीं। इस शताब्दी का आरंभ हिन्दी के प्रखर विद्वान आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के पदार्पण से माना जाता है।

यों तो इस युग में अनेक पत्र-पत्रिकाएँ निकली, मगर उनका साहित्यिक महत्त्व कम और ऐतिहासिक महत्त्व अधिक है। सन् 1900 ई० में 'सरस्वती' का प्रकाशन आरंभ हुआ। इसके प्रकाशन से पत्रकारिता-जगत को एक नयी दिशा और दृष्टि मिली। इसके संपादन में 'नागरी प्रचारिणी' सभा ने विशेष रूप से रूचि ली। इसके सम्पादक-मंडल में लाला जगन्नाथ दास 'रत्नाकर', किशोरी लाल गोस्वामी और बाबू श्यामसुन्दर दास थे। आगे चलकर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इसके संपादन का कार्य-भार सम्भाला। फिर तो इस पत्रिका में चार चाँद लग गये। इस पत्रिका ने साहित्य-जगत में एक क्रान्ति ला दी। पत्रिका बिल्कुल साहित्यिक बन गयी और काफी सज-धज के साथ निकलने लगी। बाद में पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, पं० देवीदत्त शुक्ल, देवीदयाल चतुर्वेदी, श्री नारायण चतुर्वेदी आदि भी इसका सम्पादन करते रहे। इस वर्ष प्रकाशित होने वाले अन्य पत्रों में 'आर्य सेवक', 'सुदर्शन', 'काव्यकलानिधि', 'जैन मित्र', 'छत्तीसगढ़ मित्र' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

सन् 1901 ई० में नौ मासिक पत्रों के प्रकाशन हुए। जयपुर से चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने 'समालोचक' नामक पत्रिका निकाली और बाल मुकुन्द शर्मा ने 'मित्र' नामक पत्रिका का प्रकाशन काशी से किया। ज्ञान सिंह ने लखनऊ से 'अवध-समाचार' साप्ताहिक पत्र, शिवनाथ शर्मा ने गोपाल-पत्रिका का प्रकाशन अपने संपादकत्व में किया।

सन् 1902 में दो मासिक और चार साप्ताहिक पत्र निकले। अजमेर से 'अनाथ-रक्षक' और लखनऊ से 'वसुन्धरा' का प्रकाशन हुआ। इसी प्रकार 'आर्य वनिता', 'जबलपुर से, 'गया-समाचार' गया से तथा 'दुध-समाचार' मिर्जापुर से निकला।

सन् 1903 ई० में एक द्विमासिक सात मासिक तथा छः साप्ताहिक पत्र निकले। इनमें 'कायस्थ कुलभाष्कर', 'उपदेशक', 'लक्ष्मी-उपदेशलहरी', 'वाणिज्य सुखदायक', 'समय', और 'रसिक' 'लहरी' के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्हीं दिनों 'गढ़वाल-समाचार', 'नारद', 'हितवार्ता', 'धम्मपद', 'ब्राह्मण-सर्वस्व' आदि का भी प्रकाशन हुआ।

सन् 1904 ई० में कोई नया पत्र न निकल सका। सन् 1905 ई० में 7 (सात) मासिक और एक साप्ताहिक पत्र निकला। इन पत्रों में स्वदेश-बन्धु', 'कान्यकुब्ज', 'सनातन धर्म', 'सद्वैयक्कोस्तुम' आदि को काफी प्रसिद्धि मिली।

सन् 1906 ई० में 'कनवजिया', 'अग्रवाल', 'वैदिक सर्वस्व', 'नागरीहितैषिणी पत्रिका', 'कलबार गजट' आदि 19 पत्र सामने आये।

सन् 1907 ई० में 16 मासिक पत्र प्रकाशित हुए जिनमें 'अभ्युदय' और 'हिन्दी केसरी' अधिक महत्त्वपूर्ण पत्र थे। 'अभ्युदय' के प्रथम सम्पादक पं० मदनमोहन मालवीय थे। इस पत्रिका का लक्ष्य भारतीयों में राजनीतिक जागृति लाना था। बाद में इसका संपादन पुरूषोत्तम दास, कृष्णकान्त मालवीय आदि ने भी किया। इस वर्ष के मासिक पत्रों में 'दयानंद पत्रिका', 'बजरंगी-समाचार', 'नागरी प्रचारक', 'देवनागर', 'विद्या-भास्कर', 'सदुपकारी', नृसिंह आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

सन् 1908 ई० में चार सप्ताहिक, नौ मासिक, एक त्रैमासिक और पाक्षिक पत्र प्रकाशित हुए। इन पत्रों में 'सुन्दर श्रृंगार-समाचार', 'हिन्दु पंच', 'क्षत्रिय', 'ज्ञानोदय' आदि कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण हैं।

सन् 1909 ई० में दो त्रैमासिक, दो पाक्षिक छः साप्ताहिक और 16 मासिक पत्र निकले। 'भारत-बन्धु', 'वीर भारत' का प्रकाशन कलकत्ता से होता था। ये दोनों साप्ताहिक पत्र थे। इस वर्ष प्रकाशित होने वाले मासिक पत्रों में, 'मर्यादा', 'चाँद', 'उषा', 'धर्मालय दीपिका', 'गृहलक्ष्मी', 'सारस्वत', 'देहाती', 'ज्योतिप्रभा', 'इन्दु' आदि के नाम विशेष रूप से लिए जा सकते हैं।

सन् 1910 ई० में एक पाक्षिक, तीन साप्ताहिक और बारह मासिक पत्र प्रकाशित हुए। गणेश शंकर विद्यार्थी के संपादकत्व में निकलने वाला साप्ताहिक पत्र 'प्रताप' एक क्रांतिकारी पत्र था। यह पत्र राष्ट्रीयता की भावना से भरा होता था। पं० ठाकुरदत्त शर्मा के सम्पादकत्व में निकलने वाला पाक्षिक पत्र 'देशोपकारक' भी एक सशक्त पत्र था। मासिक पत्रों में 'आयुर्वेद', 'सुधानिधि', 'कुलश्रेष्ठ', 'सेवक', 'सुधांशु', 'नवजीवन', 'प्रजाबन्धु' आदि का भी अपना-अपना महत्व था।

सन् 1912 ई० में दो साप्ताहिक, दो पाक्षिक और 19 मासिक पत्र निकले। 'कूर्मांचल केसरी' और 'अलीगढ डिस्ट्रिक्ट गजट' साप्ताहिक पत्र थे। 'महिला हितकारक' तथा 'कामधेनु' पाक्षिक पत्र थे। अन्य पत्रों में 'दधिमती', 'पालीवाल पत्रिका', 'आचार्य', 'हितकारिणी' आदि चर्चित पत्र थे।

सन् 1912 ई० में एक मासिक दो साप्ताहिक और एक दैनिक पत्र प्रकाशित हुए। इनमें 'सत्य प्रकाश', 'मौनीटर', 'हिन्दी मनोरंजन', 'सिन्धु भास्कर' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

सन् 1913 ई० में अनेक मासिक और साप्ताहिक पत्रों के प्रकाशन हुए। इन पत्रों में 'सम्मेलन पत्रिका', 'सनातन धर्म-मण्डल', 'नवनीत', 'हिन्दी साहित्य' आदि के नाम चर्चित हैं। इनमें 'सम्मेलन पत्रिका' तथा 'प्रभा' का कई दृष्टियों से बड़ा ही अधिक महत्व है। 'सम्मेलन पत्रिका' का संपादन पं० राम नरेश त्रिपाठी और 'प्रभा' का संपादन माखनलाल चतुर्वेदी करते थे। बाद में बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने इसका सम्पादन किया।

सन् 1914 ई० में सैंतीस मासिक, चार साप्ताहिक, तीन दैनिक और एक अर्द्धसाप्ताहिक पत्र का प्रकाशन हुआ। दैनिक पत्रों में कलकत्ता से निकलने वाला 'कलकत्ता-समाचार', पटना से निकलने वाला 'बिहारी' और उन्नाव से निकलने वाला 'सर्वहितैषी' पत्र था। साप्ताहिक पत्रों में, 'राजभक्त', 'हिन्दी केसरी', 'अवधिवासी' और 'डिस्ट्रिक्ट गजट बुलंदशहर' थे। मासिक पत्रों में 'साहित्य-सरोवर', 'विद्यार्थी', 'आर्य', 'हिन्दी-सर्वस्व', 'सत्य-सिन्धु', 'हिन्दी-प्रकाश', 'भक्तिप्रचारक' आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

सन् 1915 में 22 मासिक एक त्रैमासिक, एक अर्द्धसाप्ताहिक, एक साप्ताहिक, दो पाक्षिक और दो दैनिक पत्रों के प्रकाशन हुए। इस समय के पत्रों में 'प्रहलाद', 'जैन हितेच्छ', 'खंडेलवाल जैनहितैषी', 'मल्लारि मार्तण्डविजय' आदि उल्लेखनीय हैं।

सन् 1916 ई० में एक साप्ताहिक, एक दैनिक, एक त्रैमासिक और दस मासिक पत्र निकले। मूलचन्द्र अग्रवाल के सम्पादकत्व में दैनिक पत्र 'विश्वविद्यालय' कलकत्ता से, जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल के सम्पादकत्व में दैनिक पत्र 'विश्वामित्र' कलकत्ता से, जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल के सम्पादकत्व में त्रैमासिक 'बैद्यसम्मेलन पत्रिका' प्रयाग से निकले। इस समय के मासिक पत्र थे 'श्री वैष्णव', 'सुधावर्षक', 'सर्व-शिक्षक', 'जैन मार्त्तण्ड', 'सेवक' और 'माथुर वैश्य हितकारी'।

सन् 1917 ई० में दो साप्ताहिक, आठ मासिक और एक दैनिक पत्र प्रकाशित हुए। 'समाज', 'बालसखा' 'उषा', 'स्कूल मास्टर', 'श्रीविद्या' और 'इण्डियन सेटलर' मासिक पत्र थे।

सन् 1918 में एक दैनिक पत्र 'सुर्य' पं० हेरम्ब मिश्र के सम्पादकत्व में काशी से निकला। साप्ताहिक पत्रों में 'ब्रह्मर्षि', 'धर्मवीर', 'संकल्प', 'उत्साह', 'मथुरा गजट' और 'कानपुर-समाचार' थे। 'युगान्तर' और 'सत्यकेतु' पाक्षिक पत्र थे। इसी वर्ष जो मासिक पत्र निकले, वे थे- 'परिवार हितैषी', 'कुसुमांजलि', 'सत्यवादी', 'प्रतिभा', 'विवेचक', 'राष्ट्रसेवक', 'ललिता', 'विश्वविद्यालय प्रचारक', 'ब्रह्मशक्ति', 'कालिन्दी' आदि।

सन् 1919 ई० में दिल्ली से दो दैनिक पत्र प्रकाशित हुए है। प्रथम पत्र 'विजय' था जिसके सम्पादक थे वीरभद्र विद्यालंकार और दूसरा पत्र था 'वीरभारत'। 'भविष्य', 'गोग्रास', 'शक्ति', 'सिन्धु-समाचार', 'अड़ोरवंशमिलाप' और 'सत्याग्रही' साप्ताहिक पत्र थे। मासिक पत्रों में 'श्री अग्रवाल', 'हैहयवंश-समाचार', 'पुष्पकरण ब्राह्मण', 'बरनवाल चन्द्रिका', 'कान्यकुब्ज नायक' आदि मासिक पत्र के रूप में प्रकाशित होते थे। अन्य मासिक पत्रों में 'बिजली', 'किसान', 'हिमालय', 'प्रकाश', 'संसार' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार छायावाद-पूर्व साहित्यिक पत्रकारिता की स्थिति बीसवीं शताब्दी का वह समय है जिसका परिविस्तार सन् 1901 ई० से लेकर सन् 1920 ई० तक है। इस कालखण्ड में पत्रकारिता की अभूतपूर्व उन्नति हुई। इसका कारण यह था कि इस काल की अधिकांश पत्र-पत्रिकाओं ने अपने समय की परिस्थितियों और परिवेश का समग्रतः प्रतिनिधित्व किया। इनके माध्यम से साहित्य की नई-नई विधाओं का प्रादुर्भाव हुआ। इस आधार पर कहा जा सकता है कि बीसवीं सदी की पत्रकारिता ने साहित्य को सम्पन्न और समृद्ध बनाने में पर्याप्त योग दिया है।[5]

संदर्भ ग्रन्थ

1. डॉ० रमाशंकर कलावडे, हिन्दी पत्रकारिता का उद्‌भव एवं विकास पृ०-16
2. कृष्ण नारायण माधव, हिन्दी साहित्य, युग और धारा, पृ०-434
3. डॉ० रमेशचन्द्र त्रिपाठी, पत्रकारिता: सिद्धान्त और स्वरूप- पृ०-49
4. डॉ० नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ०-742
5. डॉ० रमेशचन्द्र त्रिपाठी, पत्रकारिता: सिद्धान्त और स्वरूप, पृ०-127

लोक-नाटकों की परम्परा और बिहार

डॉ० अजित नारायण

हिन्दी विभाग, जयप्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा (बिहार)

भारत में नाटकों की परम्परा के सूत्र वेदों में मिलते हैं। वेदों की संख्या चार है। इन सबों में नाटकों की चर्चा है। इस संबंध में डॉ० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित लिखते हैं - 'चार वेदों से ही नाट्य का सृजन हुआ। त्रेता युग में इन्द्र आदि देवताओं के अनुरोध को स्वीकार कर ब्रहमा ने ऋग्वेद से पाठ्य, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से गीत और अथर्ववेद से रस ग्रहण कर वेदोपवेद से संबंधित नाट्य वेद की सृष्टि की।"[1] नाट्य वेद की सृष्टि के उपरान्त भरत मुनि को उसके प्रयोग का आदेश हुआ। डॉ० दीक्षित लिखते हैं कि नाट्य वेद के प्रयोग के पूर्व भरत मुनि को इस कला में दीक्षित किया गया और अपने शत-पुत्रों की सहायता से उसका प्रयोग करने को कहा।

प्राचीन आर्यो ने वेदों को ईश्वरीय ज्ञान के रूप में आदर दिया है। यह आर्यों के बौद्धिक विकास, सभ्यता-संस्कृति आदि की जानकारी का अलौकिक स्रोत है। भरत ने चारो संहिताओं को नाटय का उदगम स्रेात माना है और लोक संस्कारों को भी। वेदों में नाट्य के बीज मौजूद हैं। ऋग्वेद में निहित ऐसे अनेक सूक्त है, जिनमें नाट्य शैली का संवाद देखने को मिलता है। यम-यमी, पुरूरवा-उर्वशी, इन्द्र-अदिति-वामदेव इन्द्र-इन्द्रानी, वृषाकपि शर्मा - पणिस, विश्वामित्र - नदी, इन्द्रमरूत तथा अगस्त्य - लोपामुद्रा संवाद आदि उन सूक्तों के प्रमुख संवाद हैं।

लोक नाटकों की परम्परा अति प्राचीन है। आरंभिक स्थिति में अनुष्ठान और लोक उत्सव इसके प्रमुख स्तम्भ थे। उसके बाद राजदरबारों तथा भक्तिकालीन संतों ने इसे प्रोत्साहित किया। मिथिला में कर्णाटवंशी शासक हरिसिंह देव ने नाट्य कलाओं और नाटककारों को प्रश्रय दिया। उनके दरबार में ज्योतिश्वर ठाकुर ने 'धूर्त्त समागम' और उमापति ने 'पारिजातहरण' नाटक की रचना की। बाद में हरिसिंह देव गयासूद्दीन तुगलक से पराजित होकर नेपाल चले गये। यह नाट्य परम्परा 'किरतनिया' के नाम से प्रसिद्ध हुई। उस परम्परा में ज्योतिश्वर उमापति के अलावे विद्यापति, गोविन्द, ब्रह्मदास, देवानन्द, रामापति, श्रीकान्त कवि जैसे नाटककार हुए। दक्षिण भारत के दरबारों में भी नाट्य कला को काफ़ी प्रश्रय मिला। दक्षिण भारत में भागवत मेल और यक्षगान जैसे पारम्परिक नाट्य रूपों को राजदरबार में विशेष संरक्षण मिला।

विजय नगर के शासक कृष्णदेव राय के समय में भागवत मेल की विशेष अभिवृद्धि हुई। सोलहवीं शाताब्दी के अन्त में अच्युतप्पा नायक नामक तंजोर नरेश ने तमिलनाडु के मेलात्तूर नामक गाँव में पाँच सौ एक भागवतुल ब्राह्मणों को आन्ध्र के कूचपूड़ि क्षेत्र में ला बसाया और उन्हें नाट्य रचना के लिए भरपूर संरक्षण दिया। मेलात्तूर ग्राम केये नाटक बाद में वीथिनाटकम् तेरूकतु एवं भागवत मेल के नाम से विख्यात हुए। ये नाट्य रूप राजदरबारों के साथ आमजनों में भी लोकप्रिय हुए। अच्युतप्पा नायक के बाद तंजोर नरेश विजय राघव नामक नाट्य कला के बड़े संरक्षक हुए। 16वीं से 17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक भारत के विभिन्न अंचलों के सामन्त और जमींदारों ने नाट्य कला को प्रोत्साहन दिया।[2]

हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल के गहन अध्ययन से यह पता चलता है कि इस समय संतों के द्वारा नाट्य कला को बढ़ावा मिला। 15वीं शताब्दी तक देखते हैं कि भक्ति आन्दोलन का प्रसार उत्तर और पूर्व भारत में अच्छी तरह हो चुका था। भक्तिकाल के अनन्तर लीला पुरूषोत्तम श्रीकृष्ण और मर्यादा पुरूषोतम श्रीराम का चरित्र भारतीय सामाजिक जीवन पर गहरी छाप छोड़ चुका था। दोनों चरित्र जन-जीवन में प्रभावकारी रूप से रस-बस गये थे। फलस्वरूप दोनों चरित्रों की लीलाओं को संवाद, नृत्य-गीत तथा अभिनय के माध्यम से प्रस्तुत किये गये। रामलीला और रासलीला का नाटकीय स्वरूप पूरी तरह निखर कर सम्पूर्ण हिन्दी प्रदेशों का एक तरह से प्रतिनिधि नाट्य ही बन गया। डॉ० दीक्षित ठीक ही लिखते हैं कि रामलीला की यह परम्परा सदियों से चली आ रही है। विजयदशमी पर समस्त उत्तर भारत में अभिनय रामायण पाठ के साथ ही कथावस्तु के अनुरूप वेश-रचना और मुखैटों के द्वारा रामलीला मनाई जाती है।[3]

ए० बी० कीथ ने भी स्वीकार करते हुए कहा है कि रामकथा के अभिनेता आकर्षक एवं भव्य वेशभूषा के साथ युद्धभूमि में प्रस्तुत हो सारा आयोजन नाटकीय शैली में प्रस्तुत करते हैं।[4]

इसी तरह श्रीकृष्ण के जीवन-चरित्र पर आधारित कृष्ण लीला या रासलीला की परम्परा भी प्राचीन है। सावन में रासधारी कम्पनियाँ वृन्दावन आदि पवित्र स्थानों में गीत प्रधान नाट्यों का प्रदर्शन करती है। यह लीला अवध के नवाबों के बीच लोकप्रिय हुई। श्री ओमप्रकाश भारती ठीक ही लिखते हैं कि भक्तिकाल में कृष्ण और राम के चरित्रों एवं लीलाओं को संवाद नृत्य-गीत तथा अभिनय के द्वारा प्रस्तुत किया गया। रामलीला और रासलीला का नाटकीय स्वरूप निखरा और समूचे हिन्दी प्रदेश का प्रतिनिधि बन गया। पूर्वांचल तथा पूर्वोत्तर भारत में भावना ढब जात्रा, गौड़ लीला, जात्रा आदि पर पारम्परिक नाट्य रूप अस्तित्व में आया। मिथिला में विदाओत जो नाट्य रासक की प्रस्तुति करते आ रहे थे, भक्तिकाल में जयदेव और विद्यापति के भक्तिपरक गीतों के साथ संवाद जोड़कर अभिनय की नई पद्धतियों की शुरूआत की, यह नाट्य आज 'बिदापत' के नाम से प्रदर्शित होता है। .... सोलहवीं के उत्तरार्द्ध तक उत्तर और पश्चिम भारत में नये नाट्य रूप तमाशा, ख्याल, माच, नाचा, नटुआ नाच, भांडपाथेर, स्वांग या सांग आदि अपनी पहचान बना चुके थे ..... पुनर्जागरण काल (19वीं सदी) में विशेषकर तामाशा, स्वांग, नाचा और जात्रा जैसे नाट्य मंचों पर सामाजिक समस्यओं पर केन्द्रित और राष्ट्रवादी भावना को सम्पुष्ट करनेवाले कथानकों के मंचन हुए।[5]

डॉ० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित के शोध ग्रंथ से स्पष्ट है कि संस्कृत नाटकों के ह्रास के बाद पूर्वी भारत में लोक नाट्य की एक और महत्वपूर्ण परम्परा मध्य युग से होती हुई 19वीं सदी तक चली आई है। सदियों तक इसने जनमानस का अनुरंजन किया है। इन लोकनाटकों में दोहरी भाषा का प्रयोग हुआ है। संवाद तो शिष्ट, सरल संस्कृत में है पर गीत देशी भाषा में। यह देशी भाषा या तो मैथिली में है यह उससे प्रभावित अन्य स्थानीय भाषा।[6]

लोकनाटकों की परम्परा में बिहार का भी महत्व अनुपेक्षणीय है। इतिहास साक्षी है कि प्राचीन काल से ही बिहार कला और कलाकारों का गढ़ रहा है। लोक नाट्य की यहाँ महान् गौरवशाली परम्परा दिखती है। ओम प्रकाश भारती ने बिहार के पारम्परिक नाट्य नामक शोधपरक ग्रंथ में इसका सविस्तार अध्ययन प्रस्तुत किया है। उनके मतानुसार ई०पू० छठी सदी की कृषि क्रान्ति ने गंगाघाटी के लोगों के जीवन में अवकाश के क्षण प्रदान किये। इस अवकाश ने समाज को कलात्मक सृजन के लिए प्रेरित किया। कृषि क्रान्ति के बाद शिल्पकार कला और तत्व मर्मज्ञ जैसे सृजनशील वर्गों का

अभ्युदय हुआ। ऐतिहासिक उल्लेखों के अनुसार यहाँ के आमजनों का गणतंत्र से गहरा संवाद था अत: लोक कला रूपों को गणतंत्रों ने पर्याप्त संरक्षण दिया। महाजनपद काल में अंग, मिथिला और मगध कलाकारों का संरक्षण-स्थल था। रामायण और महाभारत के अन्त:साक्ष्य के अनुसार यहाँ नाट्य जैसी प्रदर्शनकारी विधाएँ प्रदर्शित होती थीं। ई० पू० तीसरी-चौथी सदी में रचित कौटिल्य के अर्थशास्त्र में रंगोपजीवी तथा नाट्य, नृत्य, गीत, वाद्य आदि की चर्चा है। बौद्ध और जैन ग्रंथों में कई स्थलों पर भिक्षुकों और तपस्वियों के लिए नाट्य प्रदर्शन देखना वर्जित कहा गया है। पटना के बुलंदी बाग से नर्तकी और विट की मुख्य मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जो ई०पू० तीसरी शताब्दी की है। इसके अलावे प्राचीन पाटलिपुत्र और राजगृह के पुरातात्विक अवशेषों से प्राप्त मूर्तियों, वाद्य यंत्रों से पता चलता है कि प्राचीन बिहार में प्रदर्शनकारी कला की समृद्ध परम्परा थी। ये परम्पराएँ गुप्तों और हर्षवर्द्धन के शासन-कालों में भी फलित रहीं। नवीं शती के बाद बिहार कई छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया। इन राज्यों के शासन छोटे-छोटे सामंत या राजा थे, जिन्होंने नाट्य कला को भरपूर प्रोत्साहन दिया।[7]

इसी तरह बिहार के 'विदापतनाँच' के बारे में सर्वज्ञात है कि इसमें परिजातहरण का कथानक बहुत दिनों तक प्रदर्शित होता रहा। बिहार में इसके अतिरिक्त रामलीला, कृष्णलीला तथ पूर्वी उत्तर बिहार में जात्रा के प्रदर्शन की परम्परा रही है।[8]

ओम प्रकाश भारती अपने अध्ययन में फ्रांसिस बुकानन के द्वारा पूर्णिया जिला के कला का जो उल्लेख किया गया है उसके कुछ अंश को उद्धृत करते हुए लिखते हैं कि डॉ० बुकानन ने भक्तिया, नृत्यकली, भीमसेन और सलेस (सलहेस) की गाथा तथा कालिपदमन आदि के प्रदर्शन के साथ गीत-गोविन्द की पदावली पर आधारित नृत्य गीत की चर्चा की है। भगैत उत्तर बिहार के यदुवंशियों के बीच प्रचलित महत्वपूर्ण लोकगाथा है। भगैत गाने वालों को भगतिया या भक्तिया कहा जाता है, जो बुकानन द्वारा वर्णित भक्तिया के समानार्थी है। भीमसेन और सलहेस की गाथा अभी भी बिहार में गायी जाती है। लेकिन बुकानन ने कहीं भी नारदी और बिदापत की चर्चा प्रत्यक्ष रूप से नहीं है।[8]

बिहार में नटुवानाच, हुडुक नाच, गोंडनाथ एवं विदेसिया की लोक जीवन में प्रचलित परम्परा रही है। नटुआनाच बिहार और सटे नेपाल के मैथिली भाषी अंचल का सबसे प्रसिद्ध जन-नाट्य है। हाँलाकि इसका लिखित इतिहास नहीं मिलता है। इसके उद्‌भव की परिस्थितियाँ स्थानीय है। वर्णरत्नाकर में नटुवा नाच से संबंधित दो शब्द का उल्लेख हुआ है- लोकिक नाच और लेबारी। लोरिक, नटुआनाच मंच का आज भी लोकप्रिय कथानक है। नटुवा नाच में विदूषक को लेबरा कहा जाता है तथा उसके द्वारा अभिनीत हास्य प्रसंग को लेबारी कहा जाता है।

गोंडनाच का प्रदर्शन बिहार प्रदेश के भोजपुर अंचल में होता है। गोंड एक जाति समूह है। इसके द्वारा प्रदर्शित होने के कारण ही गोंड नाच कहा जाता है। इसके मुख्य वाद्य हुडुक होने से इसे हुडुक नाच भी कहने का प्रचलन है। इसकी परम्परा केवल बिहार ही नहीं देश के कई अंचलो में भी मिलती है।

विदेसिया बिहार के भिखारी ठाकुर की देन मानी जाती है। भिखारी ठाकुर ने इसकी रचना 20वीं सदी के तीसरे दशक में की थी। यह भिखारी ठाकुर का अपना प्रयोग था। विदेसिया भिखारी ठाकुर का बहुत ही लोकप्रिय नाटक है। भिखारी ठाकुर के विदेसिया नाटक में अनेक लोक-नाटकों के माध्यम से भोजपुरी जनपदीय जीवन की राजनैतिक सामाजिक, सांस्कृतिक आर्थिक, धार्मिक परिस्थितियों का यथार्थ किया गया है। भिखारी ठाकुर को तत्कालीन ग्रामीण जीवन और समाज की

विविध परिस्थितियों, रीति-रिवाज, रहन-सहन आदि का व्यापक और गहरा ज्ञान था तथा तत्कालीन जीवन की विविध विसंगियों से उत्पन्न गरीब जनता की पीड़ा के प्रति सहानुभूति थी। इन्हीं नाटकों के कारण भिखारी ठाकुर को भोजपुरी का शेक्सपीयर कहा जाता है। उन्होंने न केवल नाटकों की रचना की बल्कि इसके अभिनय में स्वयं रंगमंच पर उतरे। ये लोकप्रिय नाटककार एवं कलाकार के रूप में प्रसिद्ध हुए।

संदर्भ ग्रंथ

1. डॉ० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित, भरत और भारतीय नाट्य कला, पृ० 63
2. वही, वही, पृ० 26
3. वही, पृ० 483
4. ए०वी० कीथ, संस्कृत ड्रामा, इट्स ओरिजिन एण्ड डवेलपमेन्ट, पृ० 42
5. ओमप्रकाश भारती, बिहार के पारम्परिक नाटक - 27
6. डॉ० सुरेन्द्र नाथ दीक्षित, भरत और भारतीय नाट्य कला, पृ० 481
7. ओम प्रकाश भारती, बिहार के पारम्परिक नाटक, पृ० 29
8. वही, पृ० 47

महिलाओं के स्वास्थ्य एवं उनके आर्थिक स्थिति का अध्ययन

श्वेता कांता

शोधार्थी, गृह विज्ञान विभाग, बी० आर० ए० बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

हमारा देश भले ही कई मायनों में तरक्की कर रहा हो, लेकिन देश में महिलाओं की स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं के बढ़ने का मुख्य कारण समुचित जानकारी व जागरूकता के अभाव के साथ-साथ आर्थिक विपन्नता भी है। जहाँ तक भारत की आधी-आबादी अर्थात् महिलाओं के स्वास्थ्य एवं भरण-पोषण का प्रश्न है तो अर्थाभव के कारण महिलाओं को पर्याप्त पोषण नहीं मिल पाता है और सरकार की कोई ऐसी आर्थिक योजना भी नहीं है जिससे महिलाओं को पर्याप्त पोषण मिल सके। संयुक्त राष्ट्र जनसंख्या कोष भी इसी आशय का पुष्टि करता है कि भारत के महिलाओं की स्वास्थ्य स्थिति बेहद गंभीर है। महिलाओं के स्वास्थ्य के ही संबंध में एक विदेशी लेखिका का कहना है कि महिलाओं का स्वास्थ्य इसलिए खराब है क्योंकि वह स्त्री है। प्राचीन काल से ही स्थापित एक कहावत है कि **''स्वास्थ्य ही धन है''** इस प्रमाणित उक्ति से विमुख नहीं हुआ जा सकता है जो आज भी सर्व-मान्य है लेकिन आज की परिस्थिति में यह भी सत्य है जिसे इन्कार नहीं किया जा सकता है कि सभी रोगों का कारण गरीबी है जो भारत में बृहद रूप में प्रसारित है। गरीबी अर्थात् अर्थ के घोर अभाव के कारण स्वास्थ्य को उन्नत नहीं बनाया जा सकता है। पैंसों की अभाव में आवश्यक एवं अनुसंशित मात्राओं में पोषक तत्वों को आयु, लिंग, क्रियाशीलता और विशेष क्रियाओं के अर्न्तगत उचित समय पर प्राप्त नहीं किया जा सकता है। एक अध्ययन के अनुसार देश की लगभग 80 प्रतिशत आबादी गरीबी का दंश झेल रहा है और ऐन-केन प्रकार से अपने जीवन-यापन कर रहे हैं। ''वहीं डॉ० सेन कमिटि ने अपने प्रतिवेदन में स्पष्ट किया है कि भारत के 76 प्रतिशत आबादी 20 रुपये प्रतिदिन की दर से कम पैसों में अपना गुजारा कर रहे हैं। अध्ययनों के इसी क्रम में एक अन्य विशेष अध्ययन के अनुसार भारत के 70 प्रतिशत लोगों की दैनिक आय 20 रु० या इससे भी कम हैं।''[1]

भारत जैसे देश में दैनिक तथा मासिक आय का स्तर बिल्कुल ही कम है। अत: इस स्थिति में किसी गरीब समुदाय के लोगों के पर्याप्त पोषण की बात करना कहाँ तक सार्थक है यह स्वत: ही स्पष्ट हो जाता है और ऐसी स्थिति में अपने आप को पोषण युक्त और रोग-मुक्त रखने के लिए किन आर्थिक परिस्थितियों से गुजरना होता होगा, यहाँ कुछ भी कहने का औचित्य नहीं है। इस परिप्रेक्ष्य में विशेषकर महिलाओं का पोषण एवं स्वास्थ्य स्तर की वृद्धि करना काफी ही कठिन है।

एक अध्ययन के अनुसार आर्थिक स्थिति कमजोर होने के कारण भारत के प्रत्येक पाँच महिलाओं में से एक महिला खून की कमी से प्रभावित है, ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करने वाले लोगों को प्रतिदिन 1700 कैलोरी मिलने की तुलना में मात्र 1400 कैलोरी ही उर्जा प्राप्त होती है जबकि ग्रामीण महिलाएँ पुरुषों के अपेक्षा अधिक मेहनती और परिश्रमी होती है। जहाँ तक कुपोषण का प्रश्न है तो अर्थाभाव के कारण गर्भ में लड़का होने पर माताएँ किसी तरह से 90 प्रतिशत तथा लड़कियों को गर्भ होने पर 72.7 प्रतिशत ही पोषण को प्राप्त करती हैं।

विश्व स्वास्थ्य संगठन (1995) ने एक रिपोर्ट निर्गत कर बताया है कि अत्यधिक गरीबी ही अपने आप में एक रोग है। रिपोर्ट में फिर आगे स्पष्ट किया गया है यह गरीबी काफी तेजी से फैल रही है जिससे प्रत्येक दो देशों एवं एक ही देश के लोगों के बीच में आर्थिक विषमता बढ़ती जा रही है जो गरीबी का मूल कारण और जन-समुदाय के लिए गंभीर समस्या बनी हुई है।

फाइनेनसिंग हेल्थ केअर नामक एक राष्ट्रीय पत्रिका के अनुसार 3.9 करोड़ लोग स्वास्थ्यहीनता के कारण गरीबी के परिधि में आते जा रहे हैं। वहीं 2004 के एक आँकड़े के अनुसार 30 प्रतिशत लोग कमजोर आर्थिक स्थिति के वजह से अपना चिकित्सा नहीं करा पाते हैं जबकि 47 प्रतिशत लोग अपनी सम्पत्ति को बेचकर या कर्ज लेकर चिकित्सा कराते हैं। इसी परिपेक्ष्य में योजना आयोग के एक सदस्य के अनुसार अर्थाभाव के कारण भारत के 50 फीसदी लोग अपनी चिकित्सा नहीं करा पाते हैं।

जहाँ तक सरकार द्वारा निर्गत की गई धन-राशियों पर उपलब्ध सरकारी स्वास्थ्य सुविधा का प्रश्न है तो मात्र 20 प्रतिशत लोग ही इन सुविधाओं का 80 प्रतिशत उपयोग करते हैं तथा शेष वंचित रह जाते हैं। अर्थाभाव के कारण चाहत रहते हुए भी गरीब रोगी राष्ट्रीय स्तर के अपोलो, वेदान्ता, मैक्स और भीमहैन्स जैसे विकसित तथा तकनीकि पूर्ण अस्पतालों में अपनी चिकित्सा नहीं करा पाते हैं और जीवन रहते अपनी प्राण को गँवा देते हैं।

ग्रामीण क्षेत्रों के अस्पतालों में भर्त्ती होने वाले 41 प्रतिशत और बाह्य रोगी के रूप में इलाज कराने वाले 17 फीसदी लोग कर्ज लेकर इलाज कराते हैं। इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी का एक बड़ा कारण सरकारी अस्पतालों की अव्यवस्था भी है। इसके लिए चिकित्सा पाठ्यक्रम भी उत्तरदायी है क्योंकि चिकित्सा पाठ्यक्रमों में रोगी के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक पहलुओं पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता है।

एक अध्ययन के अनुसार राष्ट्रीय स्तर पर सरकार द्वारा स्वास्थ्य सुविधाओं के लिए विमुक्त धन-राशि के द्वारा खड़ा किया गया ढ़ाँचा (Intra Structure) यह स्पष्ट करता है कि स्वास्थ्य को सुरक्षित रखने के लिए यह राशि पर्याप्त नहीं है। जहाँ पिछले एक दशक में जनसंख्या की 16 प्रतिशत वृद्धि हुई है, जबकि प्रति हजार जनसंख्या में बीमार व्यक्तियों की संख्या में 66 प्रतिशत है। इस दौरान प्रति हजार जनसंख्या पर अस्पताल में बेडों की संख्या मात्र 5.1 प्रतिशत बढ़ी है। देश में औसत बेड घनत्व (प्रति हजार जनसंख्या बेड की उपलब्धता) 0.86 है, जो विश्व औसत का एक-तिहाई है। चिकित्सा कर्मियों की कमी और अस्पतालों में व्याप्त कुप्रबंधन के कारण कितने बेड वर्ष भर खाली पड़े रहते हैं। इससे वास्तविक बेड घनत्व और भी कम हो जाता है जबकि ग्रामीण स्तर पर इसमें और अत्यधिक कमी आएगी। आँकड़ों के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में जहाँ देश की 72 प्रतिशत जनसंख्या निवास करती है, वहाँ कुल बेड का 1/9 भाग तथा चिकित्सा कर्मियों का 1/4 भाग पाया जाता है। ग्रामीण स्वास्थ्य उप केंद्रों एवं प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों में चिकित्सा कर्मियों की भारी कमी है। इन केंद्रों में 62 प्रतिशत विशेषज्ञ चिकित्सकों, 49 प्रतिशत प्रयोगशाला सहायकों और 20 प्रतिशत फार्मासिस्टों की कमी है।

प्रस्तुत शोध में आर्थिक स्थिति के आधार पर संकलित किये गये तथ्यों का वर्णन निम्नलिखित तालिकाओं के माध्यम से किया जा रहा है। इसमें एक बात स्पष्ट सामने आ रही है कि जिन उत्तरदाताओं की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ है उन जातियों की महिलाओं में स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता

अधिक है तथा जिनकी आर्थिक स्थिति दयनीय है उनमें अधिकांश आज भी स्वास्थ्य के प्रति जागरूक नही हैं। आर्थिक स्थिति के आधार पर अध्ययन विषय से संकलित किये गये तथ्यों का विश्लेषण इस प्रकार है :-

तालिका संख्या - 1

क्या आपको उच्च/निम्न रक्तचाप के बारे में जानकारी है ? हाँ/नहीं

उत्तरदाता	संख्या	प्रतिशत
हाँ	140	70
नहीं	60	30
कुल संख्या	200	100

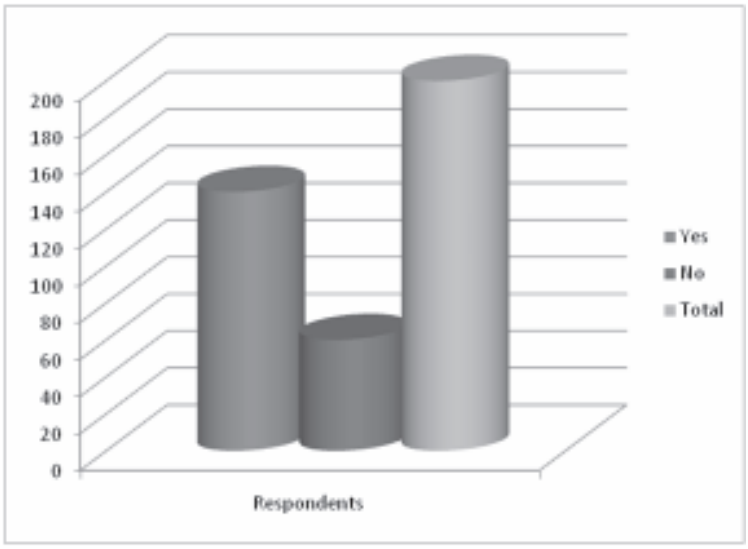

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि पूछे गए प्रश्न **क्या आपको उच्च/निम्न रक्तचाप के बारे में जानकारी है** तो प्राप्त उत्तर तालिका से स्पष्ट होता है कि सभी उत्तरदाताओं के 70 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने कहा कि उन्हें उच्च/निम्न रक्तचाप के बारे में जानकारी है जबकि 30 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने कहा कि उन्हें उच्च/निम्न रक्तचाप के बारे में जानकारी नहीं है।

तालिका संख्या - 2

आपके विचार में यदि शिक्षा का स्तर बढ़ेगा तो लोग स्वच्छ रहेंगे तथा लोग कम बीमार पड़ेंगे, इस बात से आप सहमत हैं ? हाँ/नहीं

उत्तरदाता	संख्या	प्रतिशत
हाँ	170	85
नहीं	30	15
कुल संख्या	200	100

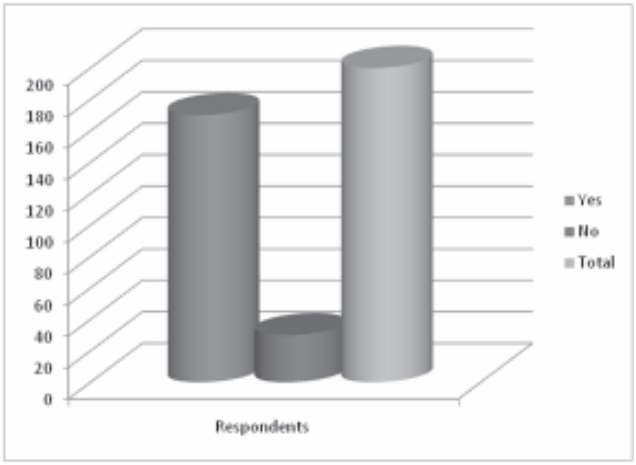

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि पूछे गए प्रश्न आपके विचार में यदि शिक्षा का स्तर बढ़ेगा तो लोग स्वच्छ रहेंगे तथा लोग कम बीमार पड़ेंगे इस बात से आप सहमत हैं तो सभी उत्तरदाताओं में 85 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने इस प्रश्न के सहमति में अपना जबाव दिया है जबकि 15 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने इस प्रश्न के जबाव में अपनी असहमति जतायी।

तालिका संख्या - 3

क्या आप इस बात से सहमत हैं कि जिन परिवारों की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होती है वहीं लोग कम बीमार पड़ते हैं ? सहमत/असहमत

उत्तरदाता	संख्या	प्रतिशत
सहमत	118	59
असहमत	82	41
कुल संख्या	200	100

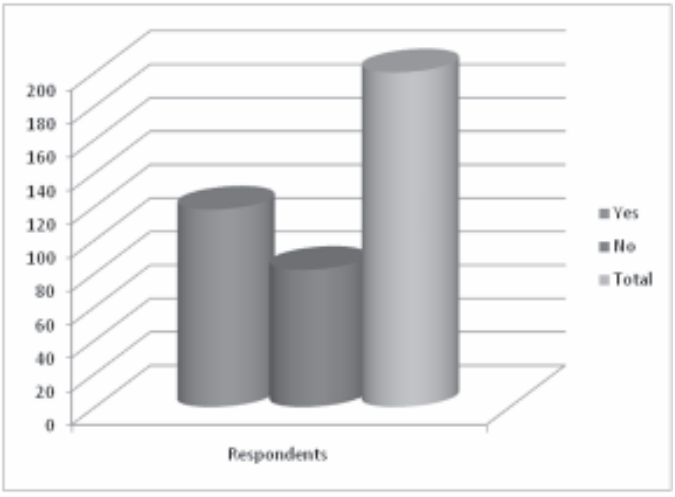

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि पूछे गये प्रश्न क्या आप इस बात से सहमत हैं कि **जिन परिवारों की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होती है वहीं लोग कम बीमार पड़ते हैं** तो प्राप्त उत्तर तालिका से स्पष्ट होता है कि सभी उत्तरदाताओं में 59 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने इसके समर्थन में अपना जबाव दिया हैं, जबकि 41 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने अपना जबाव इसके असहमति में दिया है।

तालिका संख्या - 4

क्या आप गर्भावस्था के दौरान जच्चा-बच्चा स्वस्थ रहने के लिए उचित टीकाकरण करवाते हैं ? हाँ/नहीं

उत्तरदाता	संख्या	प्रतिशत
हाँ	158	79
नहीं	42	21
कुल संख्या	200	100

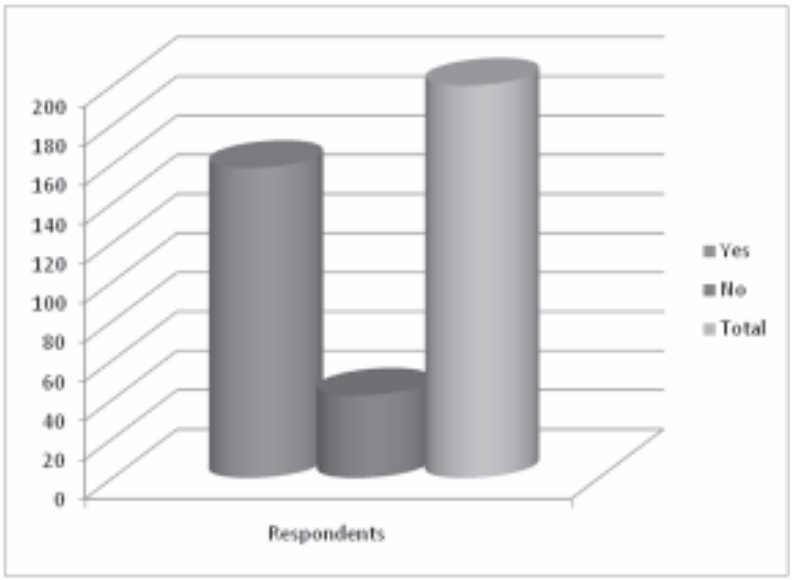

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि पूछे गए प्रश्न **क्या आप गर्भावस्था के दौरान जच्चा-बच्चा स्वस्थ रहने के लिए उचित टीकाकरण करवाते हैं** तो प्राप्त उत्तर तालिका के आधार पर स्पष्ट है कि सभी उत्तरदाताओं के 79 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने इस प्रश्न के जबाव में अपनी सहमति जतायी है जबकि 21 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने अपना जबाव इसके असहमति जतायी है।

अच्छा स्वास्थ्य आर्थिक विकास की गति तेज करने और गरीबी हटाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इस समय स्वास्थ्य के क्षेत्र पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद का केवल 0.9 प्रतिशत खर्च किया जाता है। राज्य सरकार के अलावा केन्द्र की ओर से भी ग्रामीण इलाके में स्वास्थ्य सेवाओं को बेहतर बनाने के लिए लगातार कोशिश की जा रही है लेकिन जरूरत के अनुसार अभी तक देश के अंतिम

छोर तक वह सुविधाएँ नहीं पहुँच पायी है। केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय की निर्देशों के अर्न्तगत देश में 2083 लोगों पर एक चिकित्सक और छह हजार पर एक सहायक नर्स की नियुक्ति होनी चाहिए। शहरों में यह स्थिति तो बेहतर है, लेकिन ग्रामीण इलाके में अभी बहुत कुछ करने की गुंजाइश है। मानक के अनुरूप चिकित्सा सेवा नहीं पहुँच पाई है। केन्द्र सरकार की ओर से भी तमाम योजनाएँ चलाई जा रही हैं, जो जनसंख्या की दृष्टि से अभी भी कम पड़ रही हैं, जिन्हें और बेहतर बनाने की जरूरत है। सरकार की ओर से लगातार स्थिति में सुधार की कोशिश की जा रही है। आजादी के समय जहाँ जीवन प्रत्याशा 32 वर्ष थी वह अब करीब 66 वर्ष से अधिक तक पहुँच चुकी है। पहले चेचक, प्लेग, मलेरिया सहित अन्य महामारियों जैसी बीमारियों से लाखों लोग दम तोड़ देते थे लेकिन अब इन महामारियों के अलावा हम पोलियो को भी दूर करने में सफल हो रहे हैं। स्वास्थ्य विभाग का आँकड़ा यह साबित करता है कि पहले जहाँ अकेले एक गाँव में सैकड़ो लोग मरते थे वहीं अब मलेरिया से करीब 20 लाख की आबादी में एक या दो लोगों की मौत होती है जो स्थिति करीब-करीब अन्य क्षेत्रों में भी है फिर भी अभी इस दिशा में बहुत कुछ करना अनिवार्य है, जिसके लिए हमारी केन्द्र व राज्य सरकारें तत्पर हैं। मातृ सुरक्षा के लिए गाँव स्तर पर ''आशा'' की नियुक्ति की गयी है। शत-प्रतिशत प्रसव चिकित्सालय में कराने की कोशिश चल रही है, लेकिन अभी इसमें सफलता नहीं मिल पाई है। तमाम चुनौतियों के बीच हमारे देश के लोगों की सेहत में लगातार सुधार हो रहा है। हमारी स्वास्थ्य सेवाएँ कई विकसित देशों की अपेक्षा बेहतर परिणाम दे रही है।

वर्ष 2005 में वित्त मंत्री श्री चिदम्बरम ने नगरों और गाँवों की खाई को पाटने के लिए ग्रामीण विकास की एक महात्त्वाकांक्षी योजना ''भारत निर्माण'' की घोषणा की थी। इस योजना पर चार वर्षों के दौरान ग्रामीण भारत का स्वरूप बदलने और वहाँ बुनियादी सुविधाएँ उपलब्ध कराने के लिए 1 लाख 74 करोड़ रूपये खर्य किए जायेंगे। राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन इस योजना का हिस्सा है। यह योजना 2005 से कार्यान्वित है जिसके विस्तार की संभावना है जिस योजना का उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों मे रहने वाले गरीबों, औरतों और बच्चों को अच्छी स्वास्थ्य सुविधाएँ उपलब्ध कराना है।

2008 वर्ष को आधार मानकर विश्व स्वास्थ्य संगठन ने भारत के रोगियों के बढ़ते हुए संख्या के संबंध में 2011 के जारी प्रतिवेदन में एक अनुमान व्यक्त किया है कि भारत में स्वास्थ्य सेवाओं के लिए प्रति व्यक्ति 32 डालर खर्च करना जरूरी है।[2] जबकि विश्व स्वास्थ्य संगठन ने पुनः इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि भारत में मधुमेह, हृदय रोगों एवं स्ट्रोक के कारण लगभग 210 अरब डॉलर का आर्थिक बोझ पड़ेगा साथ ही अगले 10 वर्षों में केवल मधुमेह और स्ट्रोक के कारण भारत को 333 अरब डालर का अतिरिक्त आर्थिक भार वहन करना पड़ेगा।[3]

प्रख्यात अर्थशास्त्री अमर्त्य-सेन का कहना है कि देश में स्वास्थ्य सेवा के बेहतर प्रबंध की आवश्यकता है क्योंकि स्वस्थ्य जीवन का आर्थिक विकास से प्रत्यक्ष संबंध है। गैर-संक्रामक रोगों के कारण वार्षिक राष्ट्रीय आय में कमी आती है। ऐसे रोगों से ग्रस्त लाखों व्यक्ति गरीबी रेखा के नीचे जीवन-निर्वहन करने को मजबूर हो जाते हैं, क्योंकि ऐसे लोगों की आय का एक वृहद हिस्सा चिकित्सा पर खर्च हो जाता है।[4]

सुझाव :- महिलाओं को स्वास्थ्य के प्रति जागरूक करने के लिए निम्नलिखित सुझाव इस प्रकार हैं :-

* महिलाओं को विभिन्न स्तर पर जागरूक किया जाय। यथा स्वास्थ्य, राजनीतिक, आर्थिक व कानूनी विधानो की जानकारी दी जाय।

* आर्थिक एवं शैक्षणिक क्षेत्र में महिलाओं की अधिक संख्या में सहभागिता हेतु प्रयास किया जाय तथा विभिन्न गैर-सरकारी संगठनों को इस कार्य में लगायी जाय।
* स्वास्थ्य व स्वच्छता के सन्दर्भ में जानकारी प्रस्तुत की जाय तथा समय-समय पर स्वास्थ्य मेलों का आयोजन कर उन्हें विभिन्न बीमारियों, स्वच्छता व पोषणयुक्त आहारों के बारे में जानकारी दी जाय।
* प्रौढ़ शिक्षा के माध्यम से महिलाओं में व्याप्त निरक्षरता की स्थिति को दूर करने का सार्थक प्रयास किया जाय।
* महिलाओं को परिवार नियोजन तथा टीकाकरण के बारे में जानकारी उपलब्ध कराया जाय।
* महिलाओं को पोषणयुक्त आहारों के बारे में जानकारी दी जाय तथा उन्हें विभिन्न प्रकार के विटामिनों, प्रोटीन तथा अन्य मिनरल्स के बारे में बताया जाय जिससे वे अपना व अपने परिवार में पौष्टिक आहारों का उपयोग कर सकें।
* विभिन्न प्रकार के बीमारियों व उन्हें दूर करने के सम्बन्ध में मोबाईल टीम का उपयोग कर चलचित्रों व छायाचित्रों के माध्यम से जागरूकता अभियान चलाया जाय।
* स्वास्थ्य शिक्षा को अनिवार्य बनाया जाए तथा इसका संदेश ग्रामों तक प्रसारित किया जाए।
* किसी भी प्रकार रोग नहीं हो इसके लिए रोकथाम एवं नियंत्रणों को व्यापक रूप में प्रसारित किया जाए।
* उपचारात्मक आहारों के सम्बन्ध में किसी न किसी रूप में प्रतिदिन प्रिंट मिडिया, इलेक्ट्रॉनिक मीडिया, समाचार पत्रों एवं पोस्टर तथा बैनरों के द्वारा विस्तृत रूप में गाँवों तक विस्तारित किया जाए।
* महिलाओं के रोगों के प्रति जागरूक रहने के लिए अनवरत संवदेनशील किया जाए।

उपरोक्त सुझावों पर यदि अमल किया गया तो समाज में महिलायें स्वास्थ्य के प्रति अधिक जागरूक होंगी तथा सरकार के द्वारा चलाये जा रहे योजनाओं का सार्थक पहल होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लोगों की बढ़ती आय, राज्य का बढ़ता विकास-दर और सरकार द्वारा अगले सत्र के लिए स्वीकृत की गई राशि निश्चित ही आर्थिक परिप्रेक्ष्य में स्वास्थ्य के प्रति लोगों की विवशता एवं उदासीनता में कमी लाएगा और इससे स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता बढ़ेगी और प्रगति की दिशा में स्वास्थ्य प्रभावित होगा।

सन्दर्भ सूची

1. अरूण, ए. के. (2011) : बजट 2011-12 एकांगी नहीं है स्वास्थ्य का सवाल, योजना, योजना-भवन, संसद-मार्ग, नई-दिल्ली, पृ.सं.-20
2. विश्व स्वास्थ्य संगठन रिर्पोट, 2011, प्रभात-खबर, दैनिक समाचार-पत्र में प्रकाशित। मुजफ्फरपुर प्रकाशन, पृ. संख्या-09
3. विश्व स्वास्थ्य संगठन- स्वतंत्र वार्त्ता, दैनिक समाचार-पत्र में प्रकाशित, हैदराबाद प्रकाशन, पृ. संख्या-3
4. विश्व स्वास्थ्य संगठन रिर्पोट, 2011, प्रभात-खबर, दैनिक समाचार-पत्र में प्रकाशित। मुजफ्फरपुर प्रकाशन, पृ. संख्या-09

Bhoodan Movement and its Implementations in Bihar

Dr. Saroj Kumar Singh

Jai Prakash University, Chapra

This research paper has tried to study thoroughly the development and failure of '*Bhoodan* Movement' in Bihar. The State of Bihar witnessed serious agrarian unrest right from the beginning of second quarter of twentieth century. Bihar had played a leading role in the formation of *Kishan Sabha*. Some famous *Sannyasis* had emerged as leaders of prominent agrarian movements . Intervention of *Sannyasis* indicates the gravity of situation .

In spite of Bihar Zamindari Abolition Act, 1950, *Zamindari* was still existent in the whole state of Bihar in unlawful manner.The main thrust of Zamindari Abolition Act was towards discontinuance of the practice of cultivation of land by tenants. It was not directed towards reducing the wide socio-economic disparity or the dominance of landlords on rural populace due to their ownership of large lands. Tenants in large number were evicted from lands rendering them landless. The streak of these landless tenants naturally swelled the class of exisiting agricultural labour.Number of landless agricultural labour showed a marked increase.[1]

Rulers of former princely states like Ramgarh, Darbhanga etc. were extorting huge amounts from tenants by way of royalties, shares in production, illegal taxes etc. They were entitled to own various types of lands as per provisions of Bihar Zamindari Abolition act,1950. They retained their hold on agricultural land on a very large scale by predating the transfer deeds prior to January 1, 1946. They executed *benami* transfer deeds not only in favour of servants, unborn children but also in favour of cows, horses ,dogs, etc. Similarly large chunk of land was shown as rocky or sandy terrain thus not suitable for cultivation.[2] It was the period when the tenants, share-croppers and agricultural labourers were organising themselves against big Landlords/ *Zamindars*. Every attempt to suppress the mass movement of the peasantry, strongly intensified the resistance by the peasantry . This was seen as a sign of 'Red Menace'.

After Independence Bihar was the first state to have a land reform act. Land Reforms in the Indian context means removal of intermediaries, regulation of tenancy and redistribution of land to landless and semi-landless agricultural labourers.[3]The main objective of the land reform was to reduce the disparity in rural social structure and the agricultural economic system. State Government had to enact laws as per the guidelines given by the Central Government. Apart from governmental intervention some initiative were taken in private capacity also. Acharya Vinoba Bhave who had started his '*Bhoodan* Movement' in Telangana intervened in Bihar also. The objective of Vinoba's movement was

that the landlords having land in excess of their needs should donate it at their will. Such land was out to be distributed equitably amongst landless agricultural labourers.

In the beginning, his scheme of getting *Zamindars* to voluntarily donate land for distribution among the landless seemed to have caught on. Vinobaji was of the view that unless and until we are able to stand on our own, the Governments help would not be of any use.[4] Hence, Vinobaji was ready to solve the socio-economic problems of the rural poor through non-violent movement. On the basis of his experience in Telangana, Vinobaji firmly felt that if proper direction and opportunity were made available, poor populace could solve its problems on its own. Vinobaji had already declared, "All have equal rights over land as in the case of Air, Water and Light. Therefore, there should be equitable distribution of land.[5]

Vinobaji started his 'pilgrim of peace'(*padayatra*) in Bihar. The Bihar Congress had passed a resolution to donate 32 lac acres of land to him.[6] After two years of intensive bhoodan activity in Bihar, Jaya Prakash Narayan announced in 1954 that the movement had not reached its target. By August 1954, the bhoodan workers claimed to have collected 21,02,000 acres by way of actual gifts or promised donations, but the quantum was still much below the target even in 1956 when it was claimed that 21,47,842 acres had been collected.[7] An Article in Sarvodaya Journal claims that land received in Bhoodan Movement till 1964 was 21,32,772 acres.[8] By 31 March 1966, the Bhoodan Yagya Committee (BYC) had to admit officially that its total acreage of land collections had not increased instead, it had decreased from 21,47,842 acres in 1956 to 21,31,787 acres in 1966, of this at least 5,00,000 acres mainly contributed by the Raja of Ramgarh, was either forest land or legally contested lands.[9] 2,77,660 acres of land was actually distributed among the beneficiaries till 1964.[10] By March 1966, bhoodan leaders could claim to have distributed only 3,11,037 acres (less than 10 percent of the announced target),even such land as was distributed was at times waste land and at least in one case, at the bottom of a river.[11] In spite of *bhoodan* scheme there were 1,11,000 bonded labours in Bihar in 1978.[12] They were not rehabilitated either. There were 73,67,000 agricultural labourers constituting 35.50 percent of total workers in Bihar in 1981.[13]

These progressive land reform measures were enacted to ameliorate the wretched condition (hardship) of the poor agricultural labourers. But yielded poor result. Land distribution remained highly uneven, land records were in a mess; the administrative structure remained archaic, inefficient and corrupt. However, Bihar (with Jharkhand) has been the intensive area for *Bhoodan* and *Gramdan* movements and has the maximum *Bhoodans* and *Gramdans* collected in the country.

In Bihar, tenants have not been given ownership rights. Although Bihar Government attempted to prepare register of tenants in 1963, it had to abandon the task on account of armed resistance put up by landlords. Unless tenants are registered in Government records, they do not get either security for land

cultivation or ownership rights Moreover, no crop loans are made available to them by credit institutions.

Since there was no proper implementation of Land Ceiling Acts, social tension and strifes flared up. The poor were further victimized. As a result, violence and Naxalite movement got a boost. In this connection, example of Jahanabad District in Bihar is noteworthy. Government administration compiled a secret report in October 1988 in connection with tensions and strifes in the District. Only 581 acres land was declared as surplus in the district till the end of 1986-87, out of this 428 acres was taken over by the government and distributed amongst 528 beneficiaries[14]. But even that great injustice has been done in Bihar to scheduled castes and tribes. Taking possession of land and its distribution is on paper only. Beneficiaries have not got actual possession of land.[15] Naxalite movement is getting firmly and deeply rooted in Bihar. This situation has arisen mainly due to shoddy implementation of land reform acts and resultant is the problems and discontent. In June, 1999 Bihar Government disbanded '*Bhoodan Yagya Samiti'* because during last 38 years it had not distributed even half of the land received through *bhoodan*.[16]

At this stage, the Bihar Land Reforms Commission(BLRC) was constituted by the Government of Bihar on 16 June 2006.[17] The BLRC was constituted to enquire into the reasons behind the failure to achieve the intended objectives and contemplated targets under the aegis of Bihar *Bhoodan* Act, 1954. It submitted its interim report over *Bhoodan* land on June 04,2007 to Bihar Government .[18]

According to *Bhoodan Yagya* Committee, area of land so far donated and recorded in the books of the Committee was 6,48,476 acres out of which 2,55,347 acres had been distributed to 3,15,454 families, about 2,78,320 acres of land were found not to be suitable for distribution because of alleged improper physical characteristics of the land, an area of 1,14,708 acres suitable for distribution but not yet distributed.[19]

The Commission had raised the objection on the authenticities that who had verified the physical characteristic of little over 2.78 lac acres of land which had been declared unfit for distribution. Excepting hills, forests, rivers and structures in public domain like roads, hospitals, waterways, schools etc, the rest of the land should be available for utilization for farming/ horticulture/ grassland farming/ tree farming or as wastelands to be developed under the various schemes of the government. To declare such a huge area of land as unfit for distribution and then record the whole area in the books was the potent source of local disputes and social tensions. It has been also a source of corruption and misuse of public property. [20]

The figures of land given in donation, area confirmed, area distributed, area unfit for distribution and number of beneficiaries in different categories maintained by the Committee and that maintained by the Revenue Department did not tally in respect of various categories. Those discrepancies should have been reconciled by actual field verification. Without such verification the

possibility of lands being utilized by unauthorized persons including land mafia could not be ruled out.[21]

The analysis of the figures shows that the individual beneficiaries were given 7.7542 acres per household; Tribal households were given a little over 6 acres per household; OBC households were given roughly 2 acres per family. The most astounding feature of this report was that 11,130.9375 acres were distributed among 59 institutions. The categorization of *'sarvajanik evam anya'* is totally vague and confusing. From the analysis it is apparent that someone was utilizing the *bhoodan* land as his or her *Zamindari*. The report also shows that about 15000 acres have not yet been distributed formally.[22]

According to Revenue Department figures, the donated land not so far confirmed was around 1,11,000 acres. According to the figures maintained by the Committee there was no reliable figure of land not so far confirmed. This anomaly is a major source of local disputes and trouble.[23]

Committee's books do not show the land yet to be confirmed. Therefore, it raises serious doubts about the veracity of statistics and data that was being supplied by it. The possibility and the nature of fraud that could be involved was illustrated by the notorious case of donation of 1 lac acres of land by the Hathua Raj to Acharya Vinoba Bhave by a simple letter. It was confirmed by the District Gazetteer of Saran published in 1959-60 which reported this incident. It stated, inter alia, "Reports available from the said office(BYC) indicate that till the end of April 1959, 1,03,902 acres of land have been donated in the district." The land data given by the collector of Gopalganj to the Commission on 23.03.2007 indicate that an area of 21,237.48 acres were given in donation to the Committee of which only 10,263.26 acres could be confirmed by the Revenue officers. Thus, a trick of colossal proportion was committed by the Hathua Raj to Acharya Vinoba Bhave, the state of Bihar and the people of Saran district.[24]

Clause III of section 15 of the Bihar *Bhoodan Yagya* Act 1954 empowered the Committee to allot *bhoodan* land to any person and not necessarily to the landless and poor households. It went against the basic objective of Act which was "to provide for the settlement of such lands with landless person or with a village community, *Gram Panchayat* or with a cooperative society organised by the *Bhoodan Yagya* Committee."[25]

CPI(ML)'s 1986 document Report from the 'Flaming Fields of Bihar' identified *Bhoodan* and other similar measures as " nothing but part of a wider counter-insurgency move to stamp out armed peasant struggle from the face of Bihar."[26] It has been quoted in Badri Narain Sinha,DIG(Naxalite)'s article 'From Naxalbari to Ekwari' : "putting in zealous and dedicated social reformers drawn from all shades to bring about transformation on the socio-cultural planes' is as much a part of ' the counter-insurgency measures', concentrated police operations or operations by the special task forces may be from the supreme armed formation, the army itself."

The BLRC completed its work and submitted its final report and recommendations to the state government in 2008.The BLRC submitted four

interim reports,one each on *Bhoodan*, Mutation of land in place of the previous owner in the record of rights maintained by the revenue department of the government, sharecropping and ceiling on landholding.

The final report covered the remaining important issues, namely, contract farming, government estates and *khasmahal* lands, and reordering of the administrative structure. BLRC's recommendations are being acted upon by the Bihar Government selectively as reflected in its actions taken report, with top priority to *bhoodan* land. Bihar is one of the states where far larger *bhoodan* land was received and/or collected as reflected in its present status which is shown in the table below. *Bhoodan* land in Bihar. [28]

Particulars	*Area(in hectare)*
Total land gifted/received	2,62,482.05
Land fit to be distributed as per verification	1,04,144.48
Land distributed	1,03,348.23
Remaining land to be distributed	796.25

Although almost the whole of *Bhoodan* land suitable for distribution has been distributed, subsequent steps to complete the process such as mutation, possession and facilitating cultivation/use are equally vital. Besides verification of the remaining land by the revenue department is expected to identify about 20,000 hectares of additional land suitable for distribution. BLRC's recommendations on other issues are equally vital. For instance, it has recommended that ceiling surplus land should be distributed among 1.668 million landless agricultural labour households; 0.24 to 0.4 hectare per household; as well as among 0.584 million landless and homeless rural households; 10 decimals of homestead per household, besides safeguarding the interests of the sharecroppers.[29]

In summary *bhoodan* movement ended in failure. Hence, Bihar government disbanded '*Bhoodan Yagya Samiti'* in 1999. The Bihar Land Reforms Commission (BLRC) constituted in 2006 has also analysed the failure of the movement in detail. The failure of *bhoodan* movement provided fertile ground for naxalites to flowrish in Bihar.

References:

1. Deb, K. , *Rural Development in India since Independence*,pp.24-25
2. Patnaik, Utsa, *Social Scientist* , A Journal, July 1983.
3. Bandopadhyaya, Nripen, his speech in a"National Seminar on Agriculture Labour", New Delhi , 8-9 March 1990.
4. Vinoba's speech as quoted in Tennyson's *Saint on the March*, p.58
5. Vinoba, *Bhoodan Ganga*,volume-1,pp.39-40
6. Vinoba, *Teesari Shakti,1948-1969*, Sarva Sewa Sangh,Varanasi, 2010, P.219
7. Das, A.N.,"Agrarian Unrest and Socio-economic Change, 1900-1980" in *the Gentle Persuasion Bhoodan,* Manohar, 1983, pp.202-207

8. *Sarvodaya*. Journal, April 1965
9. Das, A.N., *op.cit*.,pp.202-07
10. *Sarvod*ya Journal, April 1965
11. Das, A.N.,*op.cit.,*pp.202-07
12. Statistical Abstract India, 1985, Central Statistical Organisation.
13. National Sample Survey on the Incidence of Bonded Labour, Gandhi Peace Foundation and National Labour Institute ,New Delhi , 1981(80), p.18
14. Dongre, M.G.,*The Agony and the Hope (Agriculture Labour in India),* Bharatiya Shramashodh Mandal, Pune, 1953, p.63
15. An Article by Indu Bharti in *Economic & Political weekly (E.P.W)* ,26 Nov.1988, p.2519
16. Chandra, Bipin, Mukherjee, Mridula and Mukherjee Aditya, (eds) *Ajadi Ke Bad ka Bharat*, *1947-2000*,Hindi Madhyama Karyanvay Nideshalaya, Delhi Vishwavidyalaya, 2002, p.518;*The Indian Express*, 16th june, 1999
17. Asian NGO Coalition for Agrarion Reform and Rural Development Report, p.90
18. Boodhan Land Reforms Commission Report(BLRC),p.1
19. Clause 2.1 of Interim Report on Bhoodan in Bihar by the BLRC on June 04,2007
20. Ibid., 2.2
21. Ibid., 5.1
22. Ibid., 5.2
23. Ibid., 5.3
24. Ibid., 5.4
25. Ibid., 6.2&Preamble, Bihar Bhoodan Yagna Act, 1954.
26. The Flaming Fields of Bihar , Document Report, CPI(ML), 1986.
27. *The Searchlight*, June 11-13, 1975
28. Assian NGO Coalition Report, p.90
29. Ibid., p.91.

Religion at Akbar's Court

Chandrarekha Kumari

Research Scholar, Department of History, Magadh University, Bodh Gaya

Of all the aspects of Akbar's life and reign, few have excited more interest than his attitude toward religion. There is every indication that he began his rule as a devout, orthodox Muslim. He said all the five prayers in the congregation, often recited the call for prayers, and occasionally swept out the palace mosque himself. He showed great respect for the two leading religious leaders at the court, Makhdum-ul-Mulk and Shaikh Abdul Nabi. Makhdum-ul-Mulk, who had been an important figure during the reign of the Surs, became even more powerful in the early days of Akbar. Shaikh Abdul Nabi, who was appointed *sadr-ul-sadur* in 1565, was given authority which no other holder of the office (the highest religious position in the realm) had ever enjoyed.

Akbar would go to his house to hear him expound the sayings of the Prophet, and he placed his heir, Prince Salim, under his tutorship. "For some time the Emperor had so great faith in him as a religious leader that he would bring him his shoes and place them before his feet."

Further indication of Akbar's orthodoxy and of his religious zeal was shown in his devotion to Khwaja Muinuddin, the great Chishti saint whose tomb at Ajmer was an object of veneration. He made his first pilgrimage to the tomb in 1565, and thereafter he went almost every year. If there was a perplexing problem or a particularly difficult expedition to undertake, he would make a special journey to pray at the tomb for guidance. He always entered Ajmer on foot, and in 1568 and 1570, in fulfilment of vows, walked the entire way from Agra to Ajmer.

It was probably devotion to Khwaja Muinuddin that was responsible for Akbar's interest in Shaikh Salim Chishti, a contemporary saint who lived at the site of what was to become Akbar's capital at Fathpur Sikri. It was there that he built the Ibadat Khana, the House of Worship, which he set apart for religious discussions. Every Friday after the congregational prayers, scholars, dervishes, theologians, and courtiers interested in religious affairs would assemble in the Ibadat Khana and discuss religious subjects in the royal presence.

The assemblies in the Ibadat Khana had been arranged by Akbar out of sincere religious zeal, but ultimately they were to drive him away from orthodoxy. This was partly the fault of those who attended the gatherings. At the very first session there were disputes on the question of precedence, and when these were resolved, a battle of wits started among the participants. Each tried to display his own scholarship and reveal the ignorance of the others. Questions were asked to belittle rivals, and soon the gatherings degenerated into religious squabbles. The two great theologians of the court, Makhdum-ul-

Mulk and Shaikh Abdul Nabi, arrayed on opposite sides, attacked each other so mercilessly that Akbar lost confidence in both of them. His disillusionment extended to the orthodoxy they represented.

Of the two, Makhdum-ul-Mulk was a powerful jurist and had received the title of Shaikh-ul-Islam from Sher Shah Suri. He used his position for two main purposes: to persecute the unorthodox and to accumulate fabulous wealth. Badauni says that when he died, thirty million rupees in cash were found in his house, and several boxes containing gold blocks were buried in a false tomb.

Shaikh Abdul Nabi, although not personally accused of graft, is said to have had corrupt subordinates. He was a strict puritan, and his hostility toward music was one of the grounds on which his rival attacked him in the discussions in the House of Worship. The petty recriminations of the ulama disgusted the emperor, but probably a deeper cause for his break with them was an issue that is comparable in some ways to the conflict between the church and the state in medieval Europe.

The interpretation and application of Islamic law, which was the law of the state, was the responsibility of the ulama. Over against this, and certain to come in conflict with it, was Akbar's concentration of all ultimate authority in himself. Furthermore, with Akbar's organization of the empire on new lines, problems were arising which the old theologians were unable to comprehend, much less settle in a way acceptable to the emperor.

One such problem brought matters to a climax in 1577. A complaint was lodged before the emperor by the qazi of Mathura that a rich Brahman in his vicinity had forcibly taken possession of building material collected for the construction of a mosque and had used it for building a temple. "When the qazi had attempted to prevent him, he had, in presence of witnesses, opened his foul mouth to curse the Prophet, … and had shown his contempt for Muslims in various other ways." The question of suitable punishment for the Brahman was discussed before the emperor, but, perplexed by conflicting considerations, he gave no decision. The Brahman languished in prison for a long time. Ultimately Akbar left the matter to Shaikh Abdul Nabi, who had the offender executed.

This led to an outcry, with many courtiers like Abul Fazl expressing the view that although an offence had been committed, the extreme penalty of execution was not necessary. They based their opinion on a decree of the founder of the Hanafi school of Islamic law. Abdul Nabi's action was also severely criticized by the Hindu courtiers and by Akbar's Rajput wives.

Akbar was troubled not only by this incident but by the general legal position which gave so much power to the ulama that he was at their mercy on such vital issues. He explained his difficulties to Shaikh Mubarik, the father of Faizi and Abul Fazl, who had come to the court on business. The Shaikh, who was liberal minded and independent in his views, had suffered at the hands of Makhdum-ul-Mulk. He stated that according to Islamic law, if there was a

difference of opinion between the jurists, the Muslim ruler had the authority and the right to choose any one view, his choice being decisive.

References

- Atil, Esin : *Islamic Art, Treasures from Kuwait*, Washington: The Al-Sabah Collection, 1990
- Bailey, Gauvin A. : *The Jesuits and the Grand Mogul: Renaissance Art at the Imperial Court of India, 1580–1630*, Washington, DC: Freer Gallery of Art and Arthur M. Sackler Gallery, Smithsonian Institution, 1998.
- Baker, Patricia L. : *Islamic Textiles*, London: British Museum Press, 1995.
- Behrens-Abouseif, Doris, and Stephen Vernoit : *Islamic Art in the 19th Century: Tradition, Innovation, and Eclecticism*, Leiden and Boston: Brill, 2006.
- Berinstain, Valérie, Paul Bahn : *India and the Mughal Dynasty*, New York: Harry Abrams, 1998.
- Bernier, Francois : *Travels in the Mogul Empire*, New Delhi: S. Chand, 1972.
- Beveridge, H. : *Akbarnama by Abul Fazal*, Calcutta: The Asiatic Society, 1907.
- Brend, Barbara : *The Emperor Akbar's Khamsa of Nizami*, London: British Library, 1995.
- Carboni, Stefano : *Venice and the Islamic World, 828–1797*, Paris: Gallimard Yale University Press, 2007.
- Chandra, Satish : *History of Medieval India*, New Delhi: Orient Longman, 2007.
- Crill, Rosemary, Susan Stronge, and Andrew Topsfield : *Arts of Mughal India: Studies in Honour of Robert Skelton*, Ahmedabad, India: Mapin Publishing, 2004.

The Structure and Level of Pollution in Chapra and Siwan Towns, Bihar: A Study in Environmental Geography

Ranjay Kumar Prasad

Vill+PO–Kohra Bazar, PS–Daudpur, Block-Manjhi, Distt.-Saran

Chapra (also written Chapra) is a city and headquarters of the Saran district in the Indian state of Bihar. It is situated near the junction of the Ghaghara River and the Ganges River. Chhapra grew in importance as a river-based market in the 18th century when the Dutch, French, Portuguese, and English established saltpeter refineries in the area. It was recognized as a municipality in 1864. The town has major rail and road connections with the rest of India.

Chapra is located at 25.7848°N 84.7274°E. It has an average elevation of 36 metres (118 ft). As per 2011 census, Chapra Urban Agglomeration had a population of 212,955. Chapra Urban Agglomeration includes Chapra (Nagar Panchayat) and Sanrha (Census Town). Chapra Nagar Panchayat had a total population of 201,597, out of which 106,250 were males and 95,347 were females. It had a sex ratio of 897. The population below 5 years was 27,668. The literacy rate of the 7+ population was 81.30 per cent.

At present there are 44 wards in the Chapra Municipal Corporation. Over the years the city has harnessed the agricultural base to develop its industrial and tertiary sectors. The main working population of Chapra is 23.4% of the total population. There is no industrial estate in Chapra and as such, there are only 12 industrial units in the region, which are mainly from the food processing sector. The Municipal Corporation covers an area of 16.96 sq. kms. The very low percentage of land used for commercial and industrial purposes i.e. 2%, clearly indicates that Chapra conducts its economic activities in households as micro-enterprises or outside the city limits in the peripheral rural areas.

Principally, the City of Chapra has grown along the east-west axis with the River Ghagra and the railway track acting as the outer limits of the city on Southern and the Northern sides respectively. The main commercial site is the municipal chowk. Hathwa market is famous for selling textiles. As of 2006 a locomotive factory was planned for the district. The Morton chocolate factory was located at Marhowrah. In addition, sugarcane, iron and cotton factories are located in Marhowrah. The Rail wheel factory are located in Dariyapur

The district of Saran is situated between 25°36' and 26°13' north latitude and 84°24' and 85°15' east longitude in the southern post of the Saran Division of North Bihar. The Ganges river provides the southern boundary of the district,

beyond which lie the districts of Bhojpur and Patna. To the north of Saran lie the districts of Siwan and Gopalganj. The Gandak river forms the dividing line with the Vaishali and Muzaffarpur districts in the east. To the west of Saran lie the districts of Siwan and Balia in Uttar Pradesh. The Ghaghra river forms a natural boundary between Saran and Ballia.

The district is shaped like a triangle; its apex is the confluence of the boundary of the Gopalganj district and the Gandak – Ganges river. The district is made up entirely of plains, but several depressions and marshes create three broad natural divisions:

- The alluvial plains along the big rivers, which are subject to periodic inundation.
- The uplands away from the rivers, not subject to floods.
- The riverbed diara areas.

Out of twenty blocks in the districts, six (Sonepur, Dighwara, Revelganj, chapra, Manjhi and Dariyapur) regularly flood. Six others are partially affected by floods (Parsa, Marhoura, Amnaur, Jalalpur, and Ekma). The soil of the district is alluvial. No minerals of economic value are found in the district.

Rapid increase of population, urbanization, agricultural practices and several human activities are polluting the fresh water resource in the state by adding a lots of pollutants. This resulted in the increase of water pollution.

The town environment is largely neglected. Existing water bodies and open spaces are used for indiscriminate dumping of wastes. The overall poor access to infrastructure further impacts the town environment. There are no specific identifiable interventions in this context. Neither Siwan district nor the town has a unit of the State Pollution Control Board.

Urban centres are discharging wastewater in the water bodies and for irrigation in the agriculture fields. In the early stages of human history, wastewater discharges did not pose problem to water bodies as the nature had the capacity and the system to degrade wastes and restore normal condition. Nature still does, but with the advent of urbanization, industrialization and resultant concentrated massive wastewater discharges, the aquatic systems are overloaded. The major source of organic pollution in fresh water bodies is sewage. In India, all the cities and towns did not have sewage treatment facilities. Untreated or improperly treated human wastes disposed into aquatic resources from where the downstream city's water requirements are drawn, constitute a big public health hazard in terms of their potential for spreading water borne diseases.

In Bihar, seven STPs were sanctioned for construction in four towns with a total capacity of 87.5 MLD by the Ganga Project Directorate. These towns are Patna, Chapra, Munger and Bhagalpur. The Bihar Rajya Jal Parishad is responsible for construction and operation of all the STPs in Bihar.

The total water supply in Chapra town is about 11 MLD and resultant the wastewater generation is 8.74 MLD. The STP in Chapra was designed for 2.0 MLD and is located in the Sherpur area. The plant is designed to treat the sewage by natural aeration in oxidation pond. The plant is not getting the sewage from the drain passing through the town due to various reasons. The slope of the drain is such that it is carrying only about half of the waste generated from the town towards the pumping station. During the inspection, the STP was completely dry and perhaps the sewage has not reached here since its inception. In view of its distant location (about 5 km), its utility is doubtful in the present circumstance. The Chapra municipality has initiated desilting work of drain and once the work is over, operation of pumping station for STP may taken up for transport of sewage. There shall be a gap of about 6.74 MLD wastewater treatment capacity in the town, even if, the present STP becomes operational.

Siwan town generates about 44 tonnes of garbage per day at the rate of 300grams per capita per day (gpcd). At present there is no door-to-door collection and there is indiscriminate dumping of wastes in drains and all available open areas.

The predominant mode of primary collection is street sweeping– that is not very effective as is seen from the state of the roads in the town.

The ULB is not in a position to transport the entire quantum of waste generated in the town because of shortage of vehicles.

The collection efficiency of solid waste is only 47%. There is no scientific disposal of wastes and dumping in the fringes of the town is common practice.

References

1. Atlas of Mutual Heritage
2. Falling Rain Genomics, Inc - Chapra
3. *The Guardian* obituary, 30 June 2003.

The Commercial Structure of Siwan Town, Bihar: A Study in Urban Geography

Arya Kumar Choursiya

Siwan

Siwan is the district headquarters of the Siwan district in the Indian state of Bihar. Siwan (the old name Aligunj) is located at 26.22°N 84.36°E. It has an average elevation of 77 metres (252 feet).

As of 2011 India census, Siwan had a population of 3,318,176. Males constitute 50.4% of the population and females 49.6%. Siwan has a literacy rate of 72%, higher than the state average of 63.8%: male literacy is 82.8%, and female literacy is 60.4%. The literacy rate, however, is still below the national average of 74%. The literacy rate among males has risen considerably, but the females are still lagging far behind. Between 2001 and 2011, the sex ratio has fallen from 1031 females per thousand males to 984 females per thousand males. It is still higher than the national average of 940, but the sharp fall is a matter of concern.

The word "Siwan" means the border in Bhojpuri. Currently it is not located as border district of Bihar, India but formerly it was the southern border of Greater Nepal that's why it called "Siwan", the border. Dr. Rajendra Prasad (December 3, 1884– February 28, 1963) was the first President of India. He was born in Zeradei, in the Siwan district of Bihar.

The competitive advantage of Siwan is in its good road connectivity with the surrounding areas. It is 140 km from Patna and also borders Uttar Pradesh and is a district headquarter town. The economy of Siwan district is mainly dependent on agriculture and Siwan town is the main market for the district. The town had a good industrial base due to the presence of three sugar mills and one jaggery mill. Siwan used to be a hub of power looms to support the textile industry of the state.

Siwan has been identified by the Government of Bihar as a part of seven handloom clusters (districts) in Bihar considering its importance in the state handloom sector as also future potential for their growth. Siwan has a large base of educated population. There has been an increase in the literacy rate of the city in the past 3 decades as compared to the district. The large unemployed workforce can be trained in various activities to support the industrial activities in the region and overall development of the city.

Siwan is an important centre in the district in terms of educational facilities with a range of primary, secondary, higher secondary schools and colleges being located in the city. The town has several health facilities including a government hospital. The town has three cinema halls, one stadium and 2 public libraries.

In the recent years the development in the north eastern and south eastern sides of the city is being observed. The areas beyond the Railway Line in the northern side of the city have seen growth of new development nodes Rauza, Gheghta and Serpur which are growing at a rate that is much higher than the city.

The share of primary activities in the district domestic product has increased by 27% from 2001-02 to 2004-05. This is particularly reflected by the increase in the DDP of the fishing sub-sector. With regard to agriculture, rice and wheat are the two main crops of the Saran region, followed by maize, potato and mango as the other main agricultural products of the district.

Saran contributes 5.7 % of the total production of wheat in the state and 2.8% of the total production of vegetables in the state. In spite of there being 33 small and medium scale cold storages in Saran-Chapra region, with an installed capacity of 126788.25 MTs, as some of these are non-functional or still under construction, the storage capacity for grain, fruits and vegetables is still inadequate. A huge annual loss, amounting to 25 to 40% of the total fruits and vegetables produced, occurs on account of poor methods of harvesting and transport facilities.

This is due to poor pre and post harvest management practices and lack of availability of appropriate fruit and vegetable processing industries (FVPI).

The agro climatic condition of the district is quite suitable for dairy development, pisciculture and aqua-culture. The traditional occupation in this area has been the rearing of milch cattle. It is a cattle concentrated area and animals are used in agricultural work even today.

Rearing of cows of hybrid quality has increased.

Saran stands at the 7th position when compared to the milk density (Lit / per day /sq km) of all districts (National Dairy Development Board, April 2008). The district has two milk chilling centres located at Marhaura & Chapra Sadar. The capacity of Chapra plant is 5000 litres per day.

Secondary Sector

Chapra does not have any industrial area/ estate under the Bihar Industrial Area Development Authority. Even though there are a number of trading and manufacturing units, they are mostly in the unorganized sector. There are no large scale industries in the district and small scale industries (SSI) constitutes only 2.87 percent share of the total state's SSI. According to the previous records, among the large industrial establishments of the district special mention may be made of Marhaura confectionary of M/s C. E. Morton India Ltd., the Saran Engineering Company Ltd, the Cawnpur sugar works Ltd & Cawnpur Sugar Mills distillery at Marhaura. But at present they all are closed.

The Indian Railways had announced plans to establish rail wheel factory in Bela, Saran district in 2006-07. The factory is expected to become operational within the next one year. With the establishment of this industry, employment

and ancillary business opportunities will increase, as well as overall economic development of the region will be positively impacted.

Tertiary Sector

Trading of agricultural produce, small scale and cottage industries like grill gate manufacturing, bindi making, broom making along with services in education and health constitute the main area of enterprise activity in Chapra.

Construction, railways and public administration account for a large percentage of the DDP value of tertiary services. According to a district-wise study of Poverty and Social Assessment recently conducted by the Bihar Rural Livelihood Promotion Society (BRLPS), Chapra's livelihood potential is on the lower side as compared to other districts. There is limited potential of Chapra to grow as tourist destination, even though Sonepur attracts tourists due to its popular cattle fair.

References

http://www.educationforallinindia.com/page157.html

http://siwan.bih.nic.in/District_Profile.aspx

http://www.indianexpress.com/news/this-week-bihar/1118304/

http://siwan.bih.nic.in/HistoricalPlaces1.htm

http://www.youtube.com/watch?v=t5aCmnNg_WE

Srivastava, Dayawanti et al. (ed.) (2010). "States and Union Territories: Bihar: Government". *India 2010: A Reference Annual* (54th ed.). New Delhi, India: Additional Director General, Publications Division, Ministry of Information and Broadcasting (India), Government of India. pp. 1118–1119. ISBN 978-81-230-1617-7.

"Island Directory Tables: Islands by Land Area". United Nations Environment Program. 1998-02-18.

Regional Rural Banks in Bihar Economy: A Perusal of their Performances

Kumar Gaurav

Research Scholar, Department of Economics, J.P. University, Chapra

Abstract

A severe constraint in economic growth of Bihar is lack of required capital–supply to run its development projects. Bihar economy, with its apparent backwardness, can not arrange the required capital, so, institutional credit is inevitable. How the RRBs, constituted to assist rural sectors, have miserably failed to carry on their objective this paper is an analysis of such related facts.

Since the bifercation of Bihar into two separate states, Bihar and Jharkhand, what Bihar has possessed now as source material for economic activities is agricultural land and small manufacturing units scattered few and far between. Its agriculture as main prop of production, is backward, seething in the most suffocating environment mainly due to capital required to be invested for its multifacet growth.

Its alluvial soil, water rich rivers, good climatic condition and hard working people, have miserably failed to push the economy in upward direction whereby the potentials of agriculture can be exploited to give optimum benefit to the economy. A survey of Bihar economy presents a picture which evidently shows that all odds, the state suffers from, have largely been caused due to paucity of capital. In a global competition under market economy its backward agriculture has to complete with highly developed countries agricultural produces which enter in its domestic market.

To compete with the commodities that enter in its domestic market as well as to assure its production to be competable in global market its agriculture requires to be modernized technologically and infrastructurally both. This is a gruesome task for Bihar agriculture not possible to be compliianced unless it arranges required capital. Neither have its peasants enough savings to spend on agriculture to give it even a take off position nor have financial institutions been paying required heeds to bring it from its perilous condition.

For a state like Bihar, whose economy is out and outs agrarian, and backward too, diversified economic development and banks operation, whether they are commercial banks operations, whether they are commercial banks or Regional Rural Banks are two interwoven processes, each of the two serving as input to play a role to assure inclusive development of the state. But the most odd part

of the state is that it has still been outside the reach of banking system, as most of its regions, mainly rural and a big chunk of people, mostly residing in rural and sub-urban centres are outside the ambit of banking fold. The problem becomes more serious due to disassociation of craftsmen, rural artisans, self-employed persons etc., along with peasant's from banking system. The assimilation of all these regions and collectives in a diversified banking system is need of Bihar, but as yet this important task has been neglected.

If the developmental-agony of Bihar economy, caused due to absence of institutional credit, is examined, there emerges a picture that is highly demoralizing. Leaving asides the credit performances of commercial banks, if the role of RRBs, constituted specifically to assist rural economy, for the compliances of financial demands of agriculture, village and cottage industries, simultaneously with agriculture, is examined, the over all performances of RRBs. Project a dismal picture.

In 1976 RRBs were constituted, with mission to channelize financial resources to meet financial needs of agriculture and other credit needs of agrarian economy[1]. A survey of RRBs' Branch network and their credit against their deposit and other details show a trend not congenial for the economy of Bihar. In Bihar, till March, 2010 the total branches of RRBs, operating in the state, were 1,451 which increased to 1458 till September, 2010, a marginal increase in branches.

However, the deposit and credit of RRBs in the years between March, 2010 and March 2011 registered Rs. 963 crore and Rs. 663 crores respectively[2]. But the increase was considerably lower than 2008-09 when the deposit had increased to Rs. 3,200 crores and credit Rs. 1600 crores. Here, the notable fact was that when the rural Bihar had deposited an additional amount of Rs. 1000 crores to RRBs merely two third of the deposited amount returned back to the state as credit. The growth in deposit in RRBs. registered a declining trend by 17 percent in 2008-09 and 23 percent in 2010-11[3].

Below has been cited a table depicting deposit and credit by RRBs. In major Indian states, which explicitly shows the poor performances of RRBs. in Bihar:

Table: *Percentage of Credit against deposit in RRBs. in major Indian states*

States	***2009-10***	***2010-11***
	Credit	***Deposit***
Andhrapradesh	96.38	100.42
Bihar	41.62	43.53
Gujrat	46.59	44.34
Haryana	74.10	68.97
Himachal Pradesh	41.61	42.63
Jharkhand	29.02	31.69

Contd...

States	*2009-10 Credit*	*2010-11 Deposit*
Karnataka	84.35	81.88
Kerala	108.65	115.42
Madhya Pradesh	52.19	52.10
Maharashtra	51.34	52.89
Orissa	51.20	54.36
Punjab	66.99	69.35
Rajasthan	68.13	71.83
Tamilnadu	115.07	120.83
Uttar Pradesh	46.18	46.49
Uttrakhand	60.09	55.48
West Bengal	46.61	45.23
All India	58.62	59.93

Source: RBI: Statistical Tables Relating to banks in India, 2010-11.

The table, cited above, explains the main bottlenecks in the way of credit advance by RRBs e.g. first it brings on fore a deviation by RRBs. from the basic objectives for whose compliance these banks were founded in 1976; and the second is the policy shift in the national economic development strategy under the neo-liberalism, that has been adopted by India since 1990-91.

The table appears to have been a clear evidence of the shift in RRBs credit extension policy from their objectives to assist agrarian economy financially to enable it to cope with the growth corresponding to the growth in national economy. Under such perceived idea, naturally, the weightage has been laid upon to prefer backward agrarian zones to be helped more graciously than their developed counterparts.

But there, as has been shown in the table, the credit extension policy, the RRBs have adhered to, is diametrically opposed to the objective laid down in the economic philosophy with which they were constituted. The policy-shift appears in data related to credits, extended by these banks to agriculturally advanced and agriculturally backward states.

Bihar, Himachal Pradesh and Jharkhand, the trio, has been cursed to suffer financially due to the lowest percentage of credit than its deposited amount to these banks, where as the agriculturally and industrially advanced states like Haryana, Punjab, Andhra Pradesh, Karnatak etc. have received major portion of their deposited amount as credit for economic activities. State like Haryana, with its developed agriculture, has its credit percentage against its deposited money 74.10 percent in 2009-10 and 68.97 percent in 2010-11 followed by the

Punjab 66.99 percent in 2009-10 and 69.35 percent in 2010-11. Industrially advanced states like Andhra Pradesh had recorded 98.38 percent credit in 2009-10 and 100.42 percent credit in 2010-11, Karnataka presented the figure for credit 84.35 percent in 2009-10 and 81.88 percent in 2010-11, Tamilnadu recorded the same figure as 115.07 percent in 2009-10 and 120.93 percent in 2010-11, Kerala's percentage was 108.65 in 2009-10 and 115.42 percent in 2010-11.

In comparison to these aforesaid states the percentage of credit against deposited amount in Bihar was 41.62 percent in 2009-10 and 43.53 percent in 2010-11, nearly equal to Himachal Pradesh and higher than Jharkhand's percentage of 29.02 percent in 2009-10 and 31.69 percent in 2010-11.

The table, cited above, reveals a much harassing fact that is injurious not only for economy and development of the state but also for political unity of the country, that has appeared and been appearing unintermittently in inner state rivalries manifested in atrocious actions against labours from other states.

The computed data in the table show that the RRBs have been pursuing a policy to transfer capital from economically backward regions to developed regions and, in this process are creating inner colonies on whose exploitation the prosperity of developed states depends.

Besides the aforesaid bottleneck an another factor that has been adding much to remain development constraints in backward economy like Bihar is the development strategy of neo-liberalism accepted by India. Under this development strategy the government has accepted G.D.P. growth as the sole factor for measuring economic growth, without any consideration whether the distribution system results in even or uneven manner on regional or class basises. Therefore, financial institutions are directed by government to invest a sizeable portion of their deposits in government securities and bonds.

Diversion of deposits of banks to security market inevitably depress financial capabilities of banks to spare credit for sectoral growth. If the RRBs are judged on this matrices their performance in Bihar are extremely poor. Besides their lower credit ratio RRBs have their investment plus credit ratio in Bihar which is also much discouraging.

The percentage of their deposited amount, invested by RRBs. in various securities and capital market in 2009-10 and 2010-11 remained only between 59.24 percent by Samastipur Kshetriya gramin Bank, being the highest, and 35.80 percent, the lowest, by Bihar Kshetriya gramin Bank in 2010-11, which was marginally higher than what was achieved in 2009-10, 50.34 percent by Samastipur Kshetriya Gramin Bank, with highest and 35.26 percent by Bihar Kshetriya Gramin Bank with the lowest in 2009-10. These illustrations explain that neither do RRBs advance adequate credit to Bihar economy to run its development schemes nor invest adequate capital to capital market. The

dichotomy between credit and deposit has arisen mainly due to transfer of capital leaving Bihar to seethe in an economically suffocating environment.

The need of Bihar for economic development may have been many but of them this aspect is a major reason for economic stagnancy and growth constraints. Bihar requires institutional credit for its development and RRBs, with other Commercial Banks, require to change their pattern of credit in Bihar.

References

1. RRBs Act, 1976.
2. Statistical Tables relating to Banks in India, 2010-11
3. *Ibid*.

The Role of Social Banking in the Operation and Success of Poverty Alleviation Programmes in India

Arvind Anand

Master in Commerce, Research Scholar, Magadh University, Bodh Gaya

Social banking, also called ethical or sustainable banking, moves toward more social and environmental responsibility in the financial sector. In their financing it deals with sustainable and socially responsible projects which have particular dimensions like environmental assumption and notions like justice and equality.

"Social Banking" describes the provision of banking and financial services that consequently pursue, as their main objective, a positive contribution to the potential of all human beings to develop, today and in the future.

In Social Banking, the focus is on satisfying existing needs in the real economy and the society whilst simultaneously taking into account their social, cultural, ecological and economic sustainability. Furthering the common good by generating multiple returns with respect to these aspects is at its core. Generating a monetary profit is not an end but a frequent prerequisite to guaranteeing the necessary flexibility for pursuing its objective in a continuously changing environment.

Social Banking is always conscious of its responsibility in dealing with money as a formative medium. It understands money, banking and finance as means that are conceived and that can be further developed by humans to achieve its objective.

Social Banking describes a process, not a steady state. It is about jointly identifying and testing creative new ways to come close to the above-described objective. This involves multiple aspects and demands, which are sometimes conflicting and often necessitate compromise. Therefore, Social Banking depends on an on-going and constructive dialogue of the people involved in and affected by its activities, as well as on a continuous reflection of their respective motives (why?), actions (what?) and approaches (how?). This requires the willingness and capacity to develop on both an individual and an institutional level.

Poverty has been a scourge since time immemorial. It is a continuing affront to our sensibilities, our moral principles, and our very humanity. But it doesn't have to be that way anymore. We live in an age of promise and opportunity, where technological advances, successful development experience and political

will can be summoned to eliminate poverty – and in particular to end extreme poverty. Today, we can end poverty and free future generations from its devastating, tenacious grip.

This is not to say that we have not already seen promising results in the fight against poverty. During the industrial revolution, economic and social transformation in many countries lifted millions of people out of poverty.

Progress since 1990 has gone even further, surpassing previous advances in global poverty reduction. In fact, this generation has been the world's most fortunate – across all regions – in terms of poverty reduction.

Micro-credit became a new phenomenon in the present world due to its recognition of an efficient weapon to fight against poverty. A current investigation proved that, more than 1.3 billion inhabitants are struggling to earn a smaller amount one dollar ($1) a day where they are captivated by extreme shortage of basic needs such as; food, cloth, shelter, treatment and education. Recently a tremendous success has been displayed to eradicate poverty using

Micro-credit loan and every year 1% of total population is coming out from poverty. However, reducing poverty is more successful in rural areas than in urban areas because of its random access in remote places. In every year half a billion US dollar are given to 7.5 million borrowers throughout the country as a micro-loan to break the vicious cycle of poverty.

Since India became part of the global economy and underwent economic reform in 1991, its economy is growing at a faster rate of nearly 10 per cent per annum.

In the process, India has become the fourth largest economy in the world. In the last two decades, a significant proportion of the population across the country has reaped the benefits of this economic growth.

They have become the part of global economy and market, and their lives have transformed into one of global citizens with all the comforts and luxury in life.

Apart from this burgeoning middle class in the country, the economic growth seemed to have touched the lives of the poor also. According to the National Sample Survey results, people living below poverty line have dramatically come down during the post economic reform era. People living below poverty line (BPL) came down from 36 per cent in 1993-1994 (50^{th} Round, NSSO) to 26 per cent in 1999-2000 (55^{th}

Round, NSSO). Many economists question this dramatic change in poverty level.

The poverty alleviation programmes in India can be categorized based on whether it is targeted for rural areas or urban areas. Most of the programmes are designed to target rural poverty as the prevalence of the poverty is high in rural areas. Also targeting of the poor is challenging in rural areas due to various geographic and infrastructure limitations.

National Bank for Agriculture and Rural Development (NABARD) is an apex development bank in India having headquarters based in Mumbai (Maharashtra) and other branches are all over the country.

NABARD is set up as an apex Development Bank with a mandate for facilitating credit flow for promotion and development of agriculture, small-scale industries, cottage and village industries, handicrafts and other rural crafts. It also has the mandate to support all other allied economic activities in rural areas, promote integrated and sustainable rural development and secure prosperity of rural areas.

NABARD's refinance is available to State Co-operative Agriculture and Rural Development Banks (SCARDBs), State Co-operative Banks (SCBs), Regional Rural Banks (RRBs), Commercial Banks (CBs) and other financial institutions approved by RBI. While the ultimate beneficiaries of investment credit can be individuals, partnership concerns, companies, State-owned corporations or co-operative societies, production credit is generally given to individuals.

The Integrated Rural Development Programme (IRDP) aims at providing self-employment to the rural poor through acquisition of productive assets or appropriate skills which would generate additional income on a sustained basis to enable them to cross the poverty line. Assistance is provided in the form of subsidy and bank credit. The target group consists largely of small and marginal farmers, agricultural labourers and rural artisans living below the poverty line. The pattern of subsidy is 25 per cent for small farmers, 33-1/3 per cent for marginal farmers, agricultural labourers and rural artisans and 50 per cent for Scheduled Castes/Scheduled Tribes families and physically handicapped persons. The ceiling for subsidy is Rs.6000/- for Scheduled Castes/Scheduled Tribes families and the physically handicapped; for others, it is Rs.4000/- in non-DPAP/non-DDP areas and Rs.5000/- in DPAP and DDP areas. Within the target group, there is an assured coverage of 50 per cent for Scheduled Castes/ Scheduled Tribes, 40 per cent for women and 3 per cent for the physically handicapped. Priority in assistance is also given to the families belonging to the assignees of ceiling surplus land, Green Card Holders covered under the Family Welfare Programme and freed bonded labourers.

The concept of social banking, despite its inherent merits, faces several significant challenges in the process of scaling up. An efficient business/ delivery model that is capable of delivering banking services to the masses in a cost effective manner is yet to be implemented by banks. While several delivery models have been experimented with, the same has not yet stabilized. Similarly, several alternate technology options are being tried out. However, the alternative that would be able to handle high volume low value transactions, cost efficiently, is yet to be crystallized. Banks also have to refine their pricing practices in order to ensure that the basic goal of social orientation is maintained while ensuring viability and sustainability of social banking initiatives.

References

Ben Cohen and Mal Warwick, *Values-Driven Business*, ISBN 1-57675-358-1

Steiner, Rudolf (1999). *Towards social renewal: rethinking the basis of society*. London: Rudolf Steiner Press. pp. 8 and Chap. 3.

Kumar PV.India's GDP expanded at fastest pace in 18 years: Annual GDP up 9.4%, but growth could moderate this year. Market Watch2007; May 31.

Government of India. Consumer expenditure, NSS 50th round (July 1993 - June 1994). New Delhi: National Sample Survey Organisation;1995.

Government of India. Consumer Expenditure, Employment & Unemployment and Non-agricultural Enterprises in the Informal Sector in India NSS 55th round (July'1999-June'2000). New Delhi: National Sample Survey Organisation; 2001.

Mehta J. Poverty in India 2004. Available from: http://www.tammilehto.info%20files/articles.html, accessed on April6, 2007.

Satish P. Mainstreaming of Indian microfinance. Economic and Political Weekly 2005 ; 40(17) April 23 : 1731-9.

Chavan P, Ramakumar R. Micro-credit and rural poverty : Ananalysis of empirical evidence. Economic and Political Weekly2002;37 (10), March 9.

Sustainable Development and Globalization

Dr. Harendra Prasad Singh

Lecturer, Department of Commerce, Rajendra College, Chapra

New Challenges and Opportunities for Work Organization

Work and the workplace are essential elements of industrial and industrializing economies. Work is combined with physical and natural capital to produce goods and services. The workplace is the place where the comparative advantages of workers and owners/managers create a market for exchange of talents and assets. Beyond markets, work provides both a means of engagement of people in the society, and an important social environment and mechanism for enhancing self-esteem. Finally, work is the main means of distributing wealth and generating purchasing power in dynamic national economic systems. This essay explores the complex relationship between employment, and the increasingly unsustainable and globalizing economy; the changing nature of industrial economies presents new challenges and opportunities for the organization of work in both industrialized and industrializing countries.

The Unsustainable Industrial State

Those that argue that the industrialized state – whether developed or developing – is currently unsustainable emphasize a number of problems. The 'environmental problems' include toxic pollution, climate change, resource depletion, and problems related to the loss of biodiversity and ecosystem integrity. The environmental burdens are felt unequally within nations, between nations, and between generations, giving rise to inter-national, intra-national, and intergenerational equity concerns that are often expressed as 'environmental injustice'. The Brundtland formulation of sustainability seems to focus concern on intergenerational equity, but all three kinds of mal-distributions are important.

The environmental problems stem from the activities concerned with agriculture, manufacturing, extraction, transportation, housing, energy, and services — all driven by the demand of consumers, commercial entities, and government. But in addition, there are effects of these activities on the amount, security, and skill of employment, the nature and conditions of work, and purchasing power associated with wages. An increasing concern is economic inequity stemming from inadequate and unequal purchasing power within and between nations – and for the workers and citizens of the future.

Whether solutions involving industry initiatives, government intervention, stakeholder involvement, and financing can resolve these unsustainability

problems depends on correcting a number of fundamental flaws in the characteristics of the industrial state: (1) fragmentation of the knowledge base leading to myopic understanding of fundamental problems and the resulting fashioning of single-purpose or narrowly-fashioned solutions by technical and political decision-makers, (2) the inequality of access to economic and political power, (3) the tendency towards 'gerontocracy' – governance of industrial systems by old ideas, (4) the failure of markets both to correctly price the adverse consequences of industrial activity and (5) to deal sensibly with effects which span long time horizons for which pricing and markets are inherently incapable of solving. The solutions to these system problems will be explored in the context of their implications for the organization of work.

Globalization

'Globalization' has at least three distinct meanings [Gordon, 1995], with different implications for workers and working life. 'Internationalization' is the expansion of product/service markets abroad, facilitated by information and communication technology (ICT) and e-commerce, with the locus of production remaining within the parent country. 'Multi-nationalization' is where a (multi-national) company establishes production/service facilities abroad, to be nearer to foreign markets and/or to take advantage of more industry-friendly labour, environmental, and tax policies, while maintaining research-and-development (R&D) and innovation-centered activities in the parent country.

The third meaning is the creation of strategic alliances, what some call 'transnationalization,' in which two different foreign enterprises merge/share their R&D and other capabilities to create a new entity or product line. Those concerned with enhancing trade are especially worried about barriers to internationalization, while those concerned with possible erosion of labour/environmental standards bemoan the consequences of multinationalization. Transnationalization may lead to industrial restructuring with unpredictable consequences for national economies. All three kinds of globalization raise questions of excessive market, and hence political power where concerns for profits overwhelm democratic and ethical values.

Globalization raises new challenges for governance, especially vis-a-vis the roles of government, workers, and citizens in the new economic order. Within nation-states, the extent to which the 'externalities' of production – adverse health, safety, and environmental effects – are internalized differ according to the differential success of regulation/compensation regimes and the extent to which economies incorporate the ethics of fair play in their practices. There has been a constant struggle to establish good labour and environmental standards/practices within nations. With the advent of globalized, competition-driven markets, attention has now shifted to the harmonization of standards through ILO conventions and multi-lateral environmental agreements, with only a modicum of success. Countries are slow to give up national autonomy, and only where there is a trend toward significant economic integration (as in the

EU) are there successes at harmonization. But globalization has brought an even more complex set of challenges through the creation of trade regimes – such as the WTO, ASEAN, and NAFTA – where the term 'fair trade' means the elimination (or equalization) of tariffs and so-called non-tariff trade barriers, which place labour and environmental standards at odds with trade objectives.

The trade regimes promote international laissez-faire commerce; and rights-based law/protections and market economics have become competing paradigms for public policy and governance. Government plays very different roles when is acts as a facilitator or arbitrator to resolve competing interests, than when it acts as a trustee of worker and citizen interests to ensure a fair outcome of industrial transformations [Ashford, 2002]. The differences are pronounced when stakeholders have largely disparate power – or when some are not represented in the political process, as in the case of emerging or new technology-based firms.

References

- Perrings, C. : *Sustainable Development and Poverty Alleviation in Sub-Saharan Africa*, Botswana, New York, St. Martin's Press, 1996.
- Uhlir, P. F. : *Scientific Data for Decision Making Toward Sustainable Development*, Washington, D.C., National Academies Press, 2003.
- Van der Ryn, S. and P. Calthorpe : *Sustainable Communities, a New Design Synthesis for Cities, Suburbs, and Towns*, San Francisco, Sierra Club Books, 1986.
- Veitch, James : *Can Humanity Survive, The World's Religions and the Environment*, Awareness Book Company Ltd, Auckland, New Zealand. 1996.
- Simonds, J. O. : *Garden Cities 21, Creating a Livable Urban Environment*, New York, McGraw-Hill, 1994.
- Walter, B., L. Arkin : *Sustainable Cities, Concepts and Strategies for Eco-city Development*, Los Angeles, CA, EHM Eco-Home Media, 1992.
- W.A., Western : *Liveable Neighbourhoods, a Western Australian Government Sustainable Cities Initiative*, Perth, Australian Planning Commission, 2000.

Lead Bank Scheme in Bihar An Analysis

Prof. Arup Kumar Srivastava

Research Scholar, Dept. of Commerce, J.P. University, Chapra

The lead bank scheme specified a bank as the leader to bring about a co-ordination of co-operative banks, commercial banks and other financial institutions in the districts allotted to it in the interests of district development. The lead banks were expected to make a quick of their lead districts so as to identity unbanked centres where bank branches could be located and prepared a phased programmed of branch expansion in the districts.

In the October of 1968, a study group (headed by late Dr. R. Gadgil) on 'Organizational framework for implementation of social objectives' was set up by the National Credit Council. The group recommended adoption of "area approach" for evolving plans and programmes for the development of banking and credit structure in October 1969. The group suggested that district should be the unit in area approach. Soon after nationalization of major commercial banks in 1969, a committee of banks headed by Sri F.K.F. Nariman, the then custodian of Union Bank of India, was appointed by Reserve Bank of India to evolve a coordinated programmed for ensuring the spread of adequate banking facilities in the country. The committee had a view that for assisting the process of the balanced regional development each bank should concentrate on certain districts. Based on the recommendations of Gadgil study group and of the Nariman Committee, Reserve Bank of India finalized Lead Bank Scheme giving concrete shape to area development approach and Commercial Banks were assigned with the lead bank responsibilities in particular districts to act as pace setters in providing integral banking facilities under Lead Bank Scheme in 1969.

The Banking needs of the rural areas in general and backward in particular were not taken care of by the Commercial Banks. Besides, the credit needs of Agriculture, SSI and allied activates remained neglected. Therefore, the group recommended the adoption of an area approach for bridging the spatial and structural credit gaps. Later, All India Rural Credit Review Committee 1969 endorsed the view that CBs should increasingly come forward to finance activities in rural areas.

Equally relevant in this connection was the" Report of the all Indian Rural credit review committee." 1969. It was appointed by the RBI for reviewing agricultural programmes. The Committee opined that the demand for rural credit, for both short term and long-term needs, was bound to expand rapidly as a result of the near phenomenal development taking place in agriculture. It envisaged a positive and active role for the commercial banks in the direct and indirect financing of cultivators through the suppliers of inputs or those engaged in the marketing or processing of the produce including the government procurement operation[1].

The idea of Area Development was first put forward by a study group of the National Credit Council on "Organizational Frame Work for the Implementation of social objectives" headed by the late Prof. Dr. R. Gadgil . The Group had suggested the adoption of an "Area Approach" to evolve plans and programmes for the extension of banking and credit in the country.[2] The main aim of the lead bank scheme is to provide collective action by banks and other financial institutions in the implementation of bankable schemes for improvement in the district economy. For ensuring effective and collective action coordination becomes a vital function to be performed by lead banks. It was in this context that Reserve Bank of India advised the lead banks to create an appropriate forum by setting up District Level Consultative Committees (DLCCs) in their lead district.

The vast expansion of banking network and the major shift in their orientation towards new role assigned to banks through Lead Bank Scheme brought into sharp focus the need for adequate machinery for enquiring coordination at different levels of the organization. The study group on the working of lead bank schemes in Gujarat and Maharashtra in their report recommended that the State Level Committees be set up (where they do not exist) or be activated to ensure coordination and periodical review of lead bank scheme at state level. These state level committees, known as State level Consultative committees were expected to make significant contribution in resolving problems which could not be settled at DCC meetings being beyond the powers of District level functionaries. The Department of Revenue and Banking, Government of India, at the close of 1976 desired immediate organization of State Level Bankers' Committee in all the states to create adequate coordination machinery at State level on uniform basis. Convenorship of SLBC was assigned to Lead Bank of the State.

Lead Bank Scheme (LBS) was evolved as a framework to be more responsive to the needs of the rural economy. The objectives of the scheme cannot be achieved unless rural lending is properly tied to well design programmers of development. This calls for effective co-operation and co-ordination not only between credit institutions but also between the credit institutions but also between the credit institutions on the one hand and the concerned Government and other development agencies meet periodically to discuss operational issues arising from the implementation of scheme evolved by both Government and the Banks. Initially forums were set up at the District and state level.

Under the Scheme "banks could be allotted specific districts, where they would take the lead in surveying the potential for banking development in extending branch banking after identifying growth centres and in extending credit facilities after locating viable and potentially viable propositions and mobilizing deposit out of rising levels of income". On the basis of the recommendations of these two committees the R.B.I. introduced the Lead Bank Scheme in December, 1969. The lead Bank Scheme launched in 1969 was to give a concrete shape to the idea of the area approach for development of credit

banking facilities. Its two-fold objectives were massive mobilization of rural deposits and stepping up banks lending to the weaker sections in India.[3]

All the districts in the country excepting the metropolitan cities of Mumbai, Kolkata, Chennai and Union Under the Scheme, each district had been assigned to different banks (public and private) to act as a consortium leader to coordinate the efforts of banks in the district particularly in matters like branch expansion and credit planning. The LBS did not envisage a monopoly of banking business to Lead Bank in the District. The Lead Bank was to act as a consortium leader for coordinating the efforts of all credit institutions in each of the allotted districts for expansion of branch banking facilities and for meeting the credit needs of the rural economy. Territories of Chandigarh, Delhi and Goa were allotted among public sector banks and a few private sector banks. Later on, the Union Territories of Goa, Daman and Diu as also the rural areas of the Union Territories of Delhi and Chandigarh have been brought within the purview of LBS.

Financing priority sectors is not just an outlet for the bank's resources but a powerful tool of raising the level of production in these sectors and thereby improving the standard of living of the people. In connection with the priority sector lending in general and lending in backward and rural areas in particular, the bank has accorded an enthusiastic response to the implementation of the Lead Bank Scheme. The main contribution of the Bank to the development of the concept of the Lead Bank Scheme was in the preparation of the Action Plans consisting of bankable schemes based on depth studies of community development blocks so as to improve its contribution to the economic development of the lead districts allotted to it.[4]

Since the nationalization of banks, planned attempts have been made to augment banking facilities in relatively backward States. As a result, branch expansion has been faster in the States like Assam, Orissa, Bihar, Madhya Pradesh and Utter Pradesh than in developed States like Maharashtra, Gujarat and Tamil Nadu. This has progressively reduced regional inequalities in banking facilities but they can never be wiped out completely unless the level of economic development is the same everywhere.[5]

Problems of Lead Bank Scheme:

The LBS did not have a proper start. The working of the scheme was assessed by the Banking Commission, which found that there was no common understanding as to the real meaning and content of the scheme. The lead banks were not properly equipped to conduct techno economic surveys of the districts allocated to them. Some banks were allotted districts and States where they had no foothold whatsoever. Supervision, control and guidance in such cases became difficult. The Lead Bank was expected to be a coordinating agency for commercial and co-operative banks in a particular district. But in many cases, it did not happen like that because the other Banks would not approach the Lead Bank for any specific purpose. Finally, the lead bank could have little effect in those districts that lacked basic infrastructure. The Lead Bank Scheme (LBS) was introduced by Reserve Bank in 1969 when designated banks were made key instruments for local development and entrusted with the

responsibility of identifying growth centres, assessing deposit potential and credit gaps and evolving a coordinated approach for credit deployment in each district, in concert with other banks and other agencies. The LBS underwent significant transformation in 1989 when the Service Area Approach was dovetailed into the scheme. Subsequently, as it was observed that the service area restrictions were a limiting factor for credit deployment, the restrictive provisions were removed in 2004, except for the Government Sponsored programmes. As at March 2009, there were 26 banks, mostly in the public sector, which have been assigned lead responsibility in 622 districts of the country.

Over the four decades since the introduction of the LBS, several changes have taken place in the country, especially after 1991 with the beginning of globalization and liberalization of the Indian economy. The reforms have encompassed all sectors including the financial sector. The commercial banks are much more focused today on their financials and have improved their competitiveness and efficiency. Their capital adequacy ratios and provisioning standards are as per the best international practices. Although priority sector obligations have continued to be in force for both private sector and public sector banks, attention has increasingly been drawn to the fact that large sections of the population remain outside the formal banking structure and the real and financial sectors continue to lag behind in certain regions. While policies are in place to facilitate flow of credit to the more vulnerable sectors/sections of society, there is a need to ensure greater dissemination and implementation of these policies at the grass root level, besides getting timely information and better assessment of outcomes.

A need was, therefore, felt for a comprehensive review of the Scheme. Accordingly, as announced in the Reserve Bank's mid-term review of Annual Policy for the year 2007-08, a Committee was constituted with Smt. Usha Thorat, Deputy Governor, as Chairperson and Chief/Finance Secretaries of State Governments and CMDs/ senior functionaries of banks and others as members to review the LBS with focus on financial inclusion and the recent developments in the banking sector.

The Committee held wide ranging discussions with various stakeholders viz. State Governments, banks, development institutions, academicians, NGOs, MFIs, etc. and noted that the Scheme has been useful in achieving its original objectives of improvement in branch expansion, deposit mobilization and lending to the priority sectors, especially in rural/semi urban areas. There was overwhelming consensus that the Scheme needs to continue. Clearly, the Lead Bank machinery is critical for ensuring that banks and the State Governments work together to achieve inclusive growth focusing on sustainable development.

The Committee noted that despite the branch expansion over the past forty years, there were several pockets of the population and regions that were still un-banked and under-banked and do not have easy access to formal financial services. The recent efforts at financial inclusion have been notable with the increase in number of no frills accounts as also the use of IT solutions and business correspondent (BC) model. However, in many cases, the opening of

such accounts has not been followed up with provision of essential financial services such as saving, loan, remittance and insurance products. For banks to make investments for providing such services, it is necessary to ensure that their operations are sustainable.

The Committee has recommended that a road map may be drawn to provide a banking outlet at every Gram Panchayat. In the first instance, the road map should ensure coverage of every village having population of more than 2000. Such a banking outlet need not necessarily be a brick and mortar branch, but banking services could be provided through various forms of branchless banking, including through BCs. A sub-committee of the DCC may be constituted in every district to draw-up the road map and allocate villages to banks and submit its plan by March 2010. The time frame to cover all villages having population of more than 2000 with a banking outlet should not be later than March 2011. A monitoring system may be instituted and the position reviewed by the DCC at each meeting.

The vast expansion of banking network and the major shift in their orientation towards new role assigned to banks through Lead Bank Scheme brought into sharp focus the need for adequate machinery for enquiring coordination at different levels of the organization. The study group on the working of lead bank schemes in Gujarat and Maharashtra in their report recommended that the State Level Committees be set up (where they do not exist) or be activated to ensure coordination and periodical review of lead bank scheme at state level. These state level committees, known as State level Consultative committees were expected to make significant contribution in resolving problems which could not be settled at DCC meetings being beyond the powers of District level functionaries. The Department of Revenue and d Banking, Government of India, at the close of 1976 desired immediate organization of State Level Bankers Committee in all the states to create adequate coordination machinery at State level on uniform basis. Convenorship of SLBC was assigned to Lead Bank of the State.

Responsibility of SLBC Convenorship in Bihar

The responsibility of SLBC Convenorship in Bihar is with State Bank of India. This job has been assigned to State Bank of India in the year 2000-01. Prior to this, the Bank of India was performing the role of Convenor. There are three important sub-committees of SLBC:

1. Sub-committee of SLBC for Export Promotion
2. Sub-committee on unbanked Blocks
3. Sub-committee on 100 % Financial Inclusion

Major Achievements of SLBC, Bihar

SLBC, Bihar took up various issues with the concerned department of State Government. One of the issues of exemption of Stamp Duty on loan documents under agricultural loan up to Rs. 5 lacks got resolved. Now farmers have got

the long waited relief in form of exemption of Stamp Duty, and they need not pay any amount against Stamp Duty on loan documents under agriculture up to Rs. 5 lacks. Also in case of SHG Bank credit linage Stamp Duty is exempted on loan documents irrespective of amount involved. The second major issue taken up by the SLBC, Bihar with the State Government is the exemption from payment of upfront fees at the time of lodging Certificate Cases by Banks. SLBC, Bihar suggested the State Government to recover the same proportionately from the dues as and when it is recovered. The demand is under active consideration of the State Government, and likely to be finalized soon. As our overall study of the project reveals that the proper planning and strategy for the development of priority sector in the instruct are void yet today. Therefore, the proper development of this neglected sector of the district economy has not been canalized an economy of the district being avoided by the all administrative units of the district. Thus economy of the area cuts itself from the mainstream of the development process of the nation

Table 1: Recovery Performance of Banks

BANKS	***2006-07***			***2007-08***			***2008-09***		
	Demand	***Recovery***	***% Recovery***	***Demand***	***Recovery***	***% Recovery***	***Demand***	***Recovery***	***% Recovery***
Comm. Banks	2483.29	1165.38	46.93	3137.99	1406.48	44.82	11060.19	2990.75	27.04
RRBs	614.45	350.38	69.01	568.73	620.86	109.17	433.30	247.02	57.01
Co-op Bank	507.75	161.80	26.33	401.69	170.03	42.33	1455.33	544.53	37.42
Total	**3605.49**	**1677.56**	**46.53**	**4108.41**	**2197.37**	**53.48**	**12948.82**	**3782.30**	**29.21**

Source: SLBC Patna

The recovery performance in Bihar during the above mentioned years clearly indicates that NPAs are on the rise.

Table 2: *Targets under Annual Credit Plan allocated by SLBC, Bihar for different Sectors*

Amount in Crores

Sectors	***2007-08***	***2008-09***	***2009-10***
Agriculture	4879.67	7075.73	8727.17
MSME	913.06	1050.05	1321.74
OPS	2687.64	3360.06	3871.43
TPS	8480.37	11485.84	13920.34
NPS	4619.63	6005.72	7207.45
GT	**13100.00**	**17491.56**	**21127.79**

(OPS-Other Priority Sectors, TPS-Total Priority Sectors, NPS-Non-priority Sectors) SOURCES- SLBC PATNA

Table 3: *Targets Under Annual Credit Plan (Bank-Wise)*

(Amount in Crores)

Targets	***2007-08***			***2008-09***			***2009-10***		
Sector	Comm Banks	RRBs	Co-op Banks	Comm Banks	RRBs	Co-op Banks	Comm Banks	RRBs	Co-op Banks
Agriculture	3003.58	1256.34	619.75	4355.35	1821.69	898.69	5425.14	2141.73	1160.30
MSME	793.88	107.96	11.22	913.30	124.15	12.90	1146.50	156.20	19.04
OPS	2238.01	401.97	47.66	2797.94	502.50	59.62	3240.25	528.73	102.45
TPS	6035.47	1766.27	678.63	8066.29	2448.34	971.21	9811.89	2826.66	1281.79
NPS	4204.24	406.54	8.85	5465.69	528.52	11.51	6558.66	611.73	37.06
GT	10239.71	2172.81	647.48	13531.98	2976.86	982.72	16370.55	3438.39	1318.85
	Year Total: 13,100.00			**Year Total: 17,491.46**			**Year Total: 21,127.79**		

Source: SLBC Patna

Table – 4: *Performance Under Annual Credit Plan (Sector-wise)*

(Amount in Crores)

Sector	***2006-07***		***2007-08***		***2008-09***	
	Achievement	*%age*	*Achievement*	*%age*	*Achievement*	*%age*
Agriculture	2985.40	80.20	3755.25	76.96	5697.49	80.52
MSME	376.11	56.55	572.69	62.72	653.45	62.23
OPS	2139.29	99.47	2384.43	88.72	2496.83	74.31
TPS	5000.80	84.14	6712.37	79.15	8847.79	77.03
NPS	3237.33	93.49	4055.54	87.79	4700.16	78.26
GT	**8,738.13**	**87.37%**	**10,767.91**	**82.16%**	**13,547.95**	**77.45%**

Table 5: *Performance Under Annual Credit Plan (Bank-Wise)*

(Amount in Crores)

Targets	***2006-07***			***2007-08***			***2008-09***		
Sector	Comm Banks	RRBs	Co-op Banks	Comm Banks	RRBs	Co-op Banks	Comm Banks	RRBs	Co-op Banks
AGL	1915.93 (84.24%)	797.07 (84.91%)	272.40 (53.48%)	2447.04 (81.47%)	952.36 (75.80%)	272.40 (53.48%)	3942.67 (90.52%)	1438.24 (78.25%)	316.58 (35.23%)
MSME	325.65 (57.46%)	50.46 (56.37%)	0 (0%)	496.02 (62.48%)	76.67 (71.02%)	0 (0%)	590.64 (64.69%)	62.81 (50.59%)	0 (0%)
OPS	1859.76 (105.46%)	279.20 (78.77%)	0.33 (1.01%)	2080.68 (92.97%)	303.51 (75.51%)	0.33 (1.01%)	2232.89 (79.80%)	263.77 (52.49%)	0.19 (0.32%)
TPS	4101.34 (89.07%)	1126.73 (81.49%)	272.73 (49.52%)	5023.74 (83.24%)	1332.54 (75.44%)	272.73 (49.52%)	6766.20 (83.88%)	1764.82 (72.08%)	316.77 (32.62%)
NPS	2998.62 (96.96%)	238.71 (67.68%)	0 (0%)	3807.81 (90.57%)	247.73 (60.94%)	0 (0%)	4436.07 (81.16%)	264.09 (49.97%)	0 (0%)
GT	7099.96 (92.24%)	1365.44 (78.68%)	272.73 (47.99%)	8831.55 (86.20%)	1580.27 (78.68%)	272.73 (72.73%)	11202.27 (82.78%)	2028.91 (68.16%)	316.77 (32.23)
	Total Achievement		8,738.13 (87.37%)	**Total Achievement**		10767.91 (82.16%)	**Total Achievement**		13547.95 (77.45%)

Source: SLBC Patna

The targeted outlay under ACP is on the rising trend in the last 3 years. With regard to rate of achievement to the target stipulated, it is highly appreciable.

Suggestions as under;

1. The Lead Bank Scheme (LBS) is useful and needs to continue. The State Level Bankers Committee (SLBC) and various form under LBS should focus on addressing the 'enablers' and 'impeders' in achieving greater financial inclusion and flow of credit to priority sectors, while continuing to monitor subsidy linked government sponsored schemes.
2. The overarching objective of LBS shall be to enable banks and State Governments to work together for inclusive growth.
3. It is necessary to broad base the scope of the scheme to cover initiatives for financial inclusion, role of State Governments, financial literacy and credit counselling as also 'credit plus' activities, formulate action plans to facilitate 'enablers' and remove /minimize 'impeders' for banking development for inclusive growth, develop grievance redressal mechanism, etc.
4. In every district, a Sub-Committee of the District Consultative Committee (DCC) may be constituted to draw up a road map to provide banking services through a banking outlet at least once a week at every gram panchayat. In the first instance, a banking outlet may be made accessible to each village having a population of over 2000, at least once a week on a regular basis. The services may not necessarily be through a brick and mortar branch but can be provided through various forms of branchless banking including through business correspondents (BCs). The sub-committee should come out with a time frame within which this can be achieved by March 2010 and the time frame for completion of the entire exercise should not be later than March 2011. Savings, loan, remittance and insurance products backed by financial education should form a part of achieving deeper financial education.
5. A monitoring system may be instituted by the DCC to periodically assess the position regarding achieving the roadmap and report the same in each meeting of the DCC.
6. Banks need to take the maximum advantage of available IT solutions. The funding arrangements available under Financial Inclusion Technology Fund (with NABARD) or other options such as the support offered for distribution of Government payments by RBI may be explored for the purpose.
7. Reserve Bank may review the extant guidelines on BCs to expand the category of persons who can be made eligible to act as BCs. Retail outlets like Public Distribution System (PDS) and fertilizer distributors as BCs may be examined by RBI, from the policy, regulatory and consumer protection perspectives. RBI may consider allowing banks to use mature Self Help Groups (SHGs) group leaders as BCs with IT solutions in place to ensure requisite safeguards.

8. Although permitted, Primary Agricultural Credit Societies (PACS) are not being used as BCs. Concerted efforts may be made for using PACS as BCs where such PACS are running well.
9. State Governments to ensure road and digital connectivity to all centres where penetration by the formal banking system is required. The achievement of such connectivity may be monitored by a sub-committee of the DCC. Full advantage may be taken of the special scheme offered by Reserve Bank to provide satellite connectivity through small V-SATs in remote areas.
10. State Governments to ensure conductive law and order situation, adequate security, uninterrupted power, water supply and irrigation facilities.
11. In the implementation of subsidy linked credit schemes, State Governments may consider giving preference to the previous year's uncovered trainees for loans in the following year, list out negative activities for loan purposes, prepare a centralized information on defaulters and recovery status, ensure adequate due diligence in selection of beneficiaries and try to bring in participation by private sector banks in various government sponsored schemes.
12. The State Government machinery may support the efforts made by banks for financial literacy. Towards this, the State Governments may proactively provide the assistance of the government machinery, especially at the grass root level such as schools, panchayats, etc., for dissemination of the products and services of the banks.
13. Support to banks for recovery drives may be extended by the State Government and the recovery teams may include Government officials. Cases of willful defaults/ absconding/ misutilisation of loan/subsidy amount in respect of Government Sponsored Schemes, etc. may be treated as an economic offence and dealt with accordingly.
14. Lead banks are expected to open a Financial Literacy and Credit Counselling Centre (FLCC) in every district where they have lead responsibility.
15. At the State level, the Development Plan may be prepared by a Sub-Committee which headed by the convener of SLBC and include officials from the State Government, RBI and NABARD, besides the major participating banks. A similar exercise may be carried out at the District level, where a Sub - Committee of the DCC headed by the LDM and having district level government officials, DDM, NABARD and representatives of major participating banks as members, may prepare such a plan with inputs from the LDO of Reserve Bank of India.

    To meet the social objectives of Lead Bank scheme was established in 1969. The LBS was assigned a major development responsibilities in the district allotted to it. To begin with, it was expected to familiarize itself with socio economic condition prevailing in the districts.

According to the information obtained from its techno economic survey. The Lead Banks prepare phased programmes for banking development which they implemented with the corporation of commercial banks and other financial institutions. As we can see the performance of LBS in India as well as Bihar there is an urgent need of better coordination and cooperation and other financial institutions to meet the objectives of LBS in India thereby India can achieve its goal of financial inclusion.

References:-

1. Indian financial system by M Y khan, P-11.10
2. Das, U.K. Lal (2002) Banking reforms and lead bank scheme P-88-90
3. Indian economy by Mishra and puri, P-687
4. Ibid, P-112-115
5. Prasad Narendra (1988): The SBI and Rural Development, P-87-90

Aspects of Tribal Culture and its Influence on Personality and Development of Women

Soniya Rani

Master of Arts in Psychology, Ph.D in Anthropology,
Ranchi University, Jharkhand

According to Franz Boas, pioneer of Psychological Anthropology or the study of the relationship between culture and personality, personality is obtained thru culture and not biology. His theory called Cultural Relativism gives a comprehensive understanding of the underlying relationship between culture and personality.

Many species live in social groups, from the great apes to fish and insects. The fact that humans do too is not in and of itself of note. What is interesting is the sheer complexity of the social system that humans exist in. Prehistoric humans lived mostly in small family groups to pool resources and increase their survivability.

India is the home to large number of indigenous people, who are still untouched by the lifestyle of the modern world. With more than 84.4 million, India has the largest population of the tribal people in the world. These tribal people also known as the adivasi's are the poorest in the country, who are still dependent on haunting , agriculture and fishing. Some of the major tribal groups in India include Gonds, Santhals, Khasis, Angamis, Bhils, Bhutias and Great Andamanese. All these tribal people have their own culture, tradition, language and lifestyle. This enables the tourist to get an insight into many different cultures at the same time on the tribal tour to India.

Santhals are the third largest tribe in India. They are mostly found in the states of West Bengal, Bihar, Orissa, Jharkhand and Assam. They belong to the pre- Aryan period and have been the great fighters from the time of Britishers.

Tribals are not Hindus, though they have imbibed many features of Hindu culture. The chief of the tribe, the Sarpanch , acts as the main advisor and mediator in disputes, a role in which he is assisted by a team of 5 advisors, each called panch . The sarpanch and 5 panchs are an integral and highly respected part of the village community and live in pretty much the same manner as the rest of the tribe.

There are many types of tribals in India, and Chhattisgarh is home to many of them. In fact, the state has India's oldest tribal communities, and it is safe to

assume that the earliest tribals have been living in Bastar for over 10,000 years, since the time the Aryans occupied the Indian mainland and the rich plains became

(a) war-infested and

(b) de-forested for agriculture.

The main tribes in Chhattisgarh are:

Bastar - Gond, Abujmaria , Bisonhorn Maria, Muria, Halba, Bhatra, Parja, Dhurvaa

Dantewara - Muriya, Dandami Mariya or Gond, Dorla, Halba

Koriya - Kol, Gond, Bhunjia

Korba - Korwa, Gond, Rajgond, Kawar, Bhaiyana, Binjwar, Dhanwar

Bilaspur and Raipur - Parghi, Savra, Manji, Bhayna

Gariabandh, Mainpur, Dhura, Dhamtari - Kamar

Surguja and Jashpur - Munda

Each of these has its own rich (and distinctive) history and culture of music, dance, dress and food. What's common to all is a simple, basic, in-tune-with-nature way of life that has changed little over centuries because it works so well. Marriages tend to take place within the tribe. Both burial and cremation are used for the dead, but since cremation involves multi-day rituals, which are expensive, it is not so common. Important elders, though, are always cremated.

Typically, tribal houses are made entirely of mud with thatched or red tiled roofs. Each village tends to specialise in a particular kind of handicraft - pottery, bell-metal work, iron work. It is useful to take a guide who knows and respects the tribes. Just avoid going when there is a haat on nearby, as the village empties out on those days.

The tribals are a bit shy, but friendly - they are as curious about you as you are about them! They will welcome your interest, so long as you do not treat them as exotic exhibits. So, smiling, asking questions about local customs, appreciating their crafts and culture is perfectly acceptable, gawping, clicking pictures without permission and doling out money is not

Dances are the chief amusement of the tribals. Like all folk dances, they are community affairs, characterized by robustness and earthiness. All the dances are group dances involving complex footwork, and they are wonderful to watch! The dancers are usually in a line, gyrating in a circle, always in the anti-clock direction.

Tribal society is largely egalitarian and tribal women have been equal partners with tribal men in the contribution to household economy. Quite often their women do more physical labour in their agricultural fields and forest than that of the tribal men. Tribal women have usually enjoyed a higher social status in their own communities than Indian women in general. Some of the tribes in sub-Himalayan regions like Khas is of Meghalaya are matriarchal. As

indicated earlier the socio-economic profile of tribals especially the tribal women is quite low compared to tribal men and general population and this is also associated with poor nutritional and health status among the tribals. Tribal's are engaged in various occupations like hunting, fishing, gathering of forest products, shifting cultivation to settled agriculture, rural crafts and artisans. A very few tribal groups are engaged in non-agricultural activities as mendicants, bards, pastoralists leading a semi-nomadic to nomadic life. Besides routine household work, the tribal women work in the agricultural fields, forests for long hours. The overall output if seen in terms of number of hours of work is low. Their schedule of long working hours continues even during pregnancy, natal and postnatal stages. They have a negative energy balance, high morbidity rate, and low child survival rate. They suffer from taboos and superstitions and remain deprived of the benefits from existing development and welfare programmes.

Male and female and other genders are culturally constructed categories, associated with culturally defined expected patterns of thought and behaviour that are subjected to hierarchical distinctions, advantages and disabilities. In India the low status of women derives from a lack of control over material or social resources and from a lack of choice in the unfolding of one's destiny.

This started with men maintaining their monopoly over the use of ox-drawn plough used for breaking the dry, hard packed soils. Men achieved this monopoly for essentially the same reasons that they achieved over the weapons of hunting and warfare. Their greater bodily strengths enabled them to be more efficient than women. However a single measure cannot be used to assess the status of women; rather a multi-dimensional cluster of variables is required to indicate the status. Status is not a fixed rigid concept, it changes over time. Women occupy different positions in the social structure as they pass through the life cycle, and the very basis upon which the community ascribes power, privilege and prestige also changes.

Tribal societies have been by and large characterised as egalitarian societies especially in relation to the hierarchical character of caste society. However, it cannot be said of women status. Status of women varies in different societies. All societies offer its children the presence of two genders and related roles, according to kinship, sexuality, work, marriage and age. It also supplies the broad guidelines for undertaking these roles through a body of attitudes, specifications, metaphors and myths. In the present study an effort has been to describe the status of women in four different ecological regions, with different socio-economic conditions and cultural backgrounds. The women, which form part of this study are from:-(a) Ladakh, a high altitude area, 3500- 4500 metres; (b) High valleys of North Sikkim, 3000 metres; (c) Bharmour tehsil, Chamba district, Himachal Pradesh, a middle altitude area, 1340 metres; and (d) Kotra and Jhadol tehsils of Udaipur district, Rajasthan. As suggested by the altitudes, these areas have different ecologies and consequently diverse economies.

The Ladakhi Bodh women and Bhutia women of Lachen and Lachung in North Sikkim profess Buddhism while Gaddi women of Bharmour in Chamba district own up Hinduism, and the religious sphere of Bhil women of Rajasthan represent different spirits, gods, goddesses, deities, worship, fear, awe, reverence etc. The Bhils believe in witchcraft, once identified, the witches (always women) meet a severe treatment.

It would be absurd to assume that the tribal communities are unaffected by the rapid changes taking place in today's world. The changes are obvious in India since Independence.

The government's efforts to bring the tribals into the 'mainstream' and its policies of protective discrimination have accelerated the process of change.

Today the tribal community is no longer homogeneous. Many tribals have moved up in the social and economic ladder and they are difficult to distinguish from the non-tribals. At the same time a large number still continue to live as hunter-gatherers and subsistence farmers.

Many educated tribal women have taken up positions as teachers, nurses, doctors, lawyers, officers and so on. Several have moved out of their traditional villages and migrated to different parts of the country, and they do not find it necessary to abide by the traditional social rules which once were binding on their mothers and grandmothers.

Women who have taken up salaried jobs enjoy a great deal of economic freedom and many have acquired landed property and other assets. Within Christianity, a number of tribal women are pursuing theological studies and a few have even been ordained priests.

Large-scale industrialisation and mining operations have opened new vistas of employment for tribals. Several women have moved out of their traditional roles to work as construction labourers, and in the railways, roadways, factories, etc. Others work in brick kilns in faraway places or as domestic helpers in urban areas. Some tribal women have also entered the political arena. The efforts of the government to reserve 33% of the seats for women will also further the participation of tribal women.

The thought that women are being treated shabbily, women centred programmes for developments were evolved which tended to overlook the importance of man-woman relations. Inadequate planning and implementation as well as culture resistance gave rise to more gender disparities. The association between cultures, economic organisations and different patterns of women's labour force participation ought to be implicit. Though efforts have been made in almost all countries to improve the status of women but it is still an unequal world.

References

Elwin Verrier, 1976, "Tribal Women", in Devaki Jain (ed.), Indian Women, Govt of India, New Delhi.

Sachchidananda, 1979, The Changing Munda, Concept Publishing House, New Delhi.

Singh K.S., 1985, "Tribal Women: An Anthropological Perspective", in J.P. Singh, N.N. Vyas and R.S. Mann (eds.), Tribal Women and Development, MLV Research Institute, Udaipur

Allen, N. B., Badcock, P. B. T. (2003). The social risk hypothesis of depressed mood: Evolutionary, psychosocial, and neurobiological perspectives. *Psychological Bulletin, 129,* 887-913.

Bjorklund, D. F. (2003). Evolutionary psychology from a developmental systems perspective: Comment on Lickliter and Honeycutt. *Psychological Bulletin, 129,* 836-841.

Buss, D. M. (2001). Human nature and culture: An evolutionary psychological perspective. *Journal of Personality, 69,* 955-979.

Buss, D. M., & Reeve, H. K. (2003). Evolutionary psychology and developmental dynamics: Comment on Lickliter and Honeycutt. *Psychological Bulletin, 129,* 848-853.

Bhasin, V. 2005. Medical Anthropology: Tribals of Rajasthan. Delhi: Kamla-Raj Enterprises.

de Schilppe, P. 1956.

Shifting Cultivation in Africa: The Zande System of Agriculture. London: Routledge and Kegan-Paul.

Franzmann, Majella. 2000.

Women and Religion. Oxford: Oxford University Press.

Hewitt, Farida. 1989. "Woman's work, woman's place: Agendered lifeword of a high mountain community in northern Pakistan." Mountain Research and Development, 9: 335-352 (1989).

Occult Traditions of Hindu Religious Beliefs

Prafulla Malik

Master of Arts in Sociology, Ph.D. in Antropology,
Ranchi University, Jharkhand

The occult is "knowledge of the hidden". In common English usage, *occult* refers to "knowledge of the paranormal", as opposed to "knowledge of the measurable", usually referred to as science. The term is sometimes taken to mean knowledge that "is meant only for certain people" or that "must be kept hidden", but for most practicing occultists it is simply the study of a deeper spiritual reality that extends beyond pure reason and the physical sciences. The terms *esoteric* and *arcane* have very similar meanings, and in most contexts the three terms are interchangeable.

It also describes a number of magical organizations or orders, the teachings and practices taught by them, and to a large body of current and historical literature and spiritual philosophy related to this subject.

Occultism is the study of occult practices, including (but not limited to) magic, alchemy, extra-sensory perception, astrology, spiritualism, religion, and divination. Interpretation of occultism and its concepts can be found in the belief structures of philosophies and religions such as Chaos magic, Gnosticism, Hermeticism, Theosophy, Wicca, Thelema and modern paganism.

Some religions and sects enthusiastically embrace occultism as an integral esoteric aspect of mystical religious experience. This attitude is common within Wicca and many other modern pagan religions. Some other religious denominations disapprove of occultism in most or all forms. They may view the occult as being anything supernatural or paranormal which is not achieved by or through God (as defined by those religious denominations), and is therefore the work of an opposing and malevolent entity. The word has negative connotations for many people, and while certain practices considered by some to be "occult" are also found within mainstream religions, in this context the term "occult" is rarely used and is sometimes substituted with "esoteric".

Esoteric, mystical, and occult traditions have been widely connected worldwide as far back as we can trace their history. These often secret teachings cross over realms of healing, astrology, alchemy, Yoga, mantra, and meditation, emphasizing internal practices to raise our awareness to higher states of consciousness. They have been also important in European traditions, going back to the most ancient times.

Yet these connections are not always easy to see or even recognized. Many such esoteric groups formed secret societies, particularly in European and

Middle Eastern countries where they have faced extensive oppression by religious authorities. They often deliberately veiled their teachings in symbols and hid their identity and associations, retiring from the world or public scrutiny.

The largest number of such esoteric traditions has occurred in India, Tibet and the Himalayan region. This is because these regions honoured freedom of spiritual practice and maintained an unbroken continuity of teachings of Yoga and mediation.

A demon, daemon or fiend, is a supernatural, often malevolent being prevalent in religion, occultism, literature, fiction, mythology and folklore. The original Greek word *daimon* does not carry the negative connotation initially understood by implementation of the Koine (daimonion), and later ascribed to any cognate words sharing the root.

Hinduism includes numerous varieties of spirits that might be classified as demons, including Vetalas, Bhutas and Pishachas. Rakshasas and Asuras are often also taken as demons.

Hinduism advocates the reincarnation and transmigration of souls according to one's karma. Souls (Atman) of the dead are adjudged by the Yama and are accorded various purging punishments before being reborn. Humans that have committed extraordinary wrongs are condemned to roam as lonely, often evil, spirits for a length of time before being reborn. Many kinds of such spirits (Vetalas, Pishachas, Bhûta) are recognized in the later Hindu texts. These beings, in a limited sense, can be called demons.

Demonic possession is held by many belief systems to be the spirit possession of an individual by a malevolent preternatural being, commonly known as a demon. Descriptions of demonic possessions often include erased memories or personalities, convulsions, "fits" and fainting as if one were dying. Other descriptions include access to hidden knowledge (gnosis) and foreign languages (xenoglossia), drastic changes in vocal intonation and facial structure, the sudden appearance of injuries (scratches, bite marks) or lesions, and superhuman strength. Unlike in channeling, the subject has no control over the possessing entity and so it will persist until forced to leave the victim, usually through a form of exorcism.

Tantra, literally meaning "formula", "method", or "way", (parallel to the Chinese Tao, which also means "the way" or "the method"), and also having the secondary meaning of "loom", "thread", or "warp and woof", is the name scholars give to a style of religious ritual and meditation that arose in medieval India no later than the fifth century CE, and which came to influence all forms of Asian religious expression to a greater or lesser degree. Tantra is at the same time a method of psychoanalysis, a way of integrating the body, mind, and spirit, and a way of using the mind or will to cause change in one's external situations and circumstances, hence "magic". It includes amongst its various branches a variety of ritualistic practices ranging from visualisation exercises and the chanting of mantras to elaborate rituals. Alchemy, astrology, herbalism,

yogic practices, sex magic, and trance also together form the multifaceted and multilevel nature of Tantra. Yantra, literally: "instrument" or "tool" are geometric diagrams considered to be the subtle or finer representation of the psychological or natural powers that are the deities, the proper use of which would result in the yantra becoming "activated" and infused with the particular powers and capacities of the said deity, for the practitioner or adept to put to his or her use.

The Aghori are known to engage in post-mortem rituals. They often dwell in charnel grounds, have been witnessed smearing cremation ashes on their bodies, and have been known to use bones from human corpses for crafting skull bowls (which Shiva and other Hindu deities are often iconically depicted holding or using) and jewelry. Due to their practices that are contradictory to orthodox Hinduism, they are generally opposed.

Many Aghori gurus command great reverence from rural populations as they are supposed to possess healing powers gained through their intensely eremitic rites and practices of renunciation and *tápasya*. They are also known to meditate and perform worship in haunted houses.

Aghoris are devotees of Shiva manifested as Bhairava, are monists who seek *moksha* from the cycle of reincarnation or saCsâra. This freedom is a realization of the self's identity with the absolute. Because of this monistic doctrine, the Aghoris maintain that all opposites are ultimately illusory. The purpose of embracing pollution and degradation through various customs is the realization of non-duality (advaita) through transcending social taboos, attaining what is essentially an altered state of consciousness and perceiving the illusory nature of all conventional categories.

Aghoris base their beliefs on two principles common to broader Shaiva beliefs: that Shiva is perfect (having omniscience, omnipresence and omnipotence) and that Shiva is responsible for everything that occurs – all conditions, causes and effects. Consequently, everything that exists must be perfect and to deny the perfection of anything would be to deny the sacredness of all life in its full manifestation, as well as to deny the Supreme Being.

The three pronged trident staff in Tantric Hinduism, which aghoris follow, is a symbol representing the three constituents of which Shiva and/or Shakti first creates the universe: iccha shakti (power of will/desire/intention), gyaan shakti (power of knowledge – the preconceived architectural design of the universe), and kriya shakti (the power of action). The staff part of a trident in Hinduism represents the human spinal cord, of which the sushumna nadi runs along. The sushumna nadi is the main nerve current, or meridian, in the human body which is the track that the kundalini energy rises up, bringing the aghori or yogi, or meditation practitioner, into full spiritual enlightenment, nirvana, or more precisely nirvikalpa samadhi.

Though Aghoris are prevalent in cremation grounds across India, Nepal, and even sparsely across cremation grounds in South East Asia, the secrecy of

this religious sect leaves no desire for practitioners to aspire for social recognition and notoriety.

Occult concepts have existed in the Vedic stream too. The Atharva Veda, representing an independent tradition markedly different from the other three Vedas, is a rich source parallel to the Vedic traditions of the Rig, Sam, and Yajur Vedas, containing detailed descriptions of various kinds of magical rituals for different results ranging from punishing enemies, to acquisition of wealth, health, long life, or a good harvest.

References

Walker, Benjamin (1980). *Encyclopedia of the Occult, the Esoteric and the Supernatural*. New York: Stein & Day. ISBN 0-8128-6051-9.

Harold W. Percival, Joined the Theosophical Society in 1892. After the death of William Quan Judge in 1896, organized the Theosophical Society Independent and then wrote *Thinking and Destiny* which covers in plan terms the purpose of the universe and occult meanings.

Bardon, Franz (1971). *Initiation into Hermetics*. Wuppertal: Ruggeberg.

Fortune, Dion (2000). *The Mystical Qabala*. Weiser Books. ISBN 1-57863-150-5

Gettings, Fred, *Vision of the Occult*, Century Hutchinson Ltd, 1987. ISBN 0-7126-1438-9

Kontou, Tatiana – Willburn, Sarah (ed.) (2012). *The Ashgate Research Companion to Nineteenth-Century Spiritualism and the Occult.* Ashgate, Farnham. ISBN 978-0-7456-6912-8

Martin, W., Rische, J., Rische, K., & VanGordon, K. (2008). *The Kingdom of the Occult*. Nashville, TN: Thomas Nelson Publishing.

Molnar, Thomas (1987). *The Pagan Temptation*. Grand Rapids, Mich.: W.B. Eerdmans Publishing Co.; 201 p. *N.B.*: The scope of this study also embraces the occult. ISBN 0-8028-0262-1

Regardie, I., Cicero, C., & Cicero, S. T. (2001). *The Tree of Life: An Illustrated Study in Magic*. St. Paul, MN: Llewellyn Publications.

"Demon". *Merriam-Webster Dictionary*. Encyclopædia Britannica. Retrieved 12 April 2012.

Robin Lane Fox, *Pagans and Christians* 1989, p.137.

See the Medieval grimoire called the *Ars Goetia*.

Boyce, 1987; Black and Rowley, 1987; Duchesne-Guillemin, 1988.

Freud (1950, 65), quoting Wundt (1906, 129).

Freud, S. (1950). *Totem and Taboo*. London:Routledge

Peck, M.S. (1983). *People of the Lie: The Hope For Healing Human Evil*

Peck, M.S. (2005). *Glimpses of the Devil: A Psychiatrist's Personal Accounts of Possession, Exorcism, and Redemption*.

Sri Aurobindo: An Introduction

Rakesh Kumar Singh

Research Scholar, Department of English, J.P. University, Chapra

Sri Aurobindo was born in Calcutta on August 15, 1872. In 1879, at the age of seven, he was taken with his two elder brothers to England for education and lived there for fourteen years. Brought up at first in an English family at Manchester, he joined St. Paul's School in London in 1884 and in 1890 went from it with a senior classical scholarship to King's College, Cambridge, where he studied for two years. In 1890 he passed also the open competition for the Indian Civil Service, but at the end of two years of probation failed to present himself at the riding examination and was disqualified for the Service. At this time the Gaekwar of Baroda was in London. Aurobindo saw him, obtained an appointment in the Baroda Service and left England for India, arriving there in February, 1893.

Sri Aurobindo passed thirteen years, from 1893 to 1906, in the Baroda Service, first in the Revenue Department and in secretariat work for the Maharaja, afterwards as Professor of English and, finally, Vice-Principal in the Baroda College. These were years of self-culture, of literary activity - for much of the poetry afterwards published from Pondicherry was written at this time - and of preparation for his future work. In England he had received, according to his father's express instructions, an entirely occidental education without any contact with the culture of India and the East*. At Baroda he made up the deficiency, learned Sanskrit and several modern Indian languages, assimilated the spirit of Indian civilisation and its forms past and present. A great part of the last years of this period was spent on leave in silent political activity, for he was debarred from public action by his position at Baroda. The out-break of the agitation against the partition of Bengal in 1905 gave him the opportunity to give up the Baroda Service and join openly in the political movement. He left Baroda in 1906 and went to Calcutta as Principal of the newly-founded Bengal National College.

The political action of Sri Aurobindo covered eight years, from 1902 to 1910. During the first half of this period he worked behind the scenes, preparing with other co-workers the beginnings of the Swadeshi (Indian Sinn Fein) movement, till the agitation in Bengal furnished an opening for the public initiation of a more forward and direct political action than the moderate reformism which had till then been the creed of the Indian National Congress. In 1906 Sri Aurobindo came to Bengal with this purpose and joined the New Party, an advanced section small in numbers and not yet strong in influence,

which had been recently formed in the Congress. The political theory of this party was a rather vague gospel of Non-cooperation; in action it had not yet gone farther than some ineffective clashes with the Moderate leaders at the annual Congress assembly behind the veil of secrecy of the "Subjects Committee". Sri Aurobindo persuaded its chiefs in Bengal to come forward publicly as an All-India party with a definite and challenging programme, putting forward Tilak, the popular Maratha leader at its head, and to attack the then dominant Moderate (Reformist or Liberal) oligarchy of veteran politicians and capture from them the Congress and the country. This was the origin of the historic struggle between the Moderates and the Nationalists (called by their opponents Extremists) which in two years changed altogether the face of Indian politics.

The new-born Nationalist party put forward Swaraj (independence) as its goal as against the far-off Moderate hope of colonial self-government to be realised at a distant date of a century or two by a slow progress of reform; it proposed as its means of execution a programme which resembled in spirit, though not in its details, the policy of Sinn Fein developed some years later and carried to a successful issue in Ireland. The principle of this new policy was self- help; it aimed on one side at an effective organisation of the forces of the nation and on the other professed a complete non-cooperation with the Government. Boycott of British and foreign goods and the fostering of Swadeshi industries to replace them, boycott of British law courts and the foundation of a system of Arbitration courts in their stead, boycott of Government universities and colleges and the creation of a network of National colleges and schools, the formation of societies of young men which would do the work of police and defence and, wherever necessary, a policy of passive resistance were among the immediate items of the programme. Sri Aurobindo hoped to capture the Congress and make it the directing centre of an organised national action, an informal State within the State, which would carry on the struggle for freedom till it was won. He persuaded the party to take up and finance as its recognised organ the newly-founded daily paper, Bande Mataram, of which he was at the time acting editor. The Bande Mataram, whose policy from the beginning of 1907 till its abrupt winding up in 1908 when Aurobindo was in prison was wholly directed by him, circulated almost immediately all over India. During its brief but momentous existence it changed the political thought of India which has ever since preserved fundamentally, even amidst its later developments, the stamp then imparted to it. But the struggle initiated on these lines, though vehement and eventful and full of importance for the future, did not last long at the time; for the country was still unripe for so bold a programme.

Sri Aurobindo was prosecuted for sedition in 1907 and acquitted. Up till now an organiser and writer, he was obliged by this event and by the imprisonment or disappearance of other leaders to come forward as the acknowledged head of the party in Bengal and to appear on the platform for

the first time as a speaker. He presided over the Nationalist Conference at Surat in 1907 where in the forceful clash of two equal parties the Congress was broken to pieces. In May, 1908, he was arrested in the Alipore Conspiracy Case as implicated in the doings of the revolutionary group led by his brother Barindra; but no evidence of any value could be established against him and in this case too he was acquitted. After a detention of one year as undertrial prisoner in the Alipore Jail, he came out in May, 1909, to find the party organisation broken, its leaders scattered by imprisonment, deportation or self-imposed exile and the party itself still existent but dumb and dispirited and incapable of any strenuous action. For almost a year he strove single-handed as the sole remaining leader of the Nationalists in India to revive the movement.

He published at this time to aid his effort a weekly English paper, the Karmayogin, and a Bengali weekly, the Dharma. But at last he was compelled to recognise that the nation was not yet sufficiently trained to carry out his policy and programme. For a time he thought that the necessary training must first be given through a less advanced Home Rule movement or an agitation of passive resistance of the kind created by Mahatma Gandhi in South Africa. But he saw that the hour of these movements had not come and that he himself was not their destined leader. Moreover, since his twelve months' detention in the Alipore Jail, which had been spent entirely in practice of Yoga, his inner spiritual life was pressing upon him for an exclusive concentration. He resolved therefore to withdraw from the political field, at least for a time**.

In February, 1910, he withdrew to a secret retirement at Chandernagore and in the beginning of April sailed for Pondicherry in French India. A third prosecution was launched against him at this moment for a signed article in the Karmayogin; in his absence it was pressed against the printer of the paper who was convicted, but the conviction was quashed on appeal in the High Court of Calcutta. For the third time a prosecution against him had failed. Sri Aurobindo had left Bengal with some intention of returning to the political field under more favourable circumstances; but very soon the magnitude of the spiritual work he had taken up appeared to him and he saw that it would need the exclusive concentration of all his energies. Eventually he cut off connection with politics, refused repeatedly to accept the Presidentship of the National Congress and went into a complete retirement. During all his stay at Pondicherry from 1910 onward he remained more and more exclusively devoted to his spiritual work and his sadhana.

In 1914 after four years of silent Yoga he began the publication of a philosophical monthly, the Arya. Most of his more important works, The Life Divine, The Synthesis of Yoga, Essays on the Gita, The Isha Upanishad, appeared serially in the Arya. These works embodied much of the inner knowledge that had come to him in his practice of Yoga. Others were concerned with the spirit and significance of Indian civilisation and culture (The Foundations of Indian

Culture), the true meaning of the Vedas (The Secret of the Veda), the progress of human society (The Human Cycle), the nature and evolution of poetry (The Future Poetry), the possibility of the unification of the human race (The Ideal of Human Unity). At this time also he began to publish his poems, both those written in England and at Baroda and those, fewer in number, added during his period of political activity and in the first years of his residence at Pondicherry. The Arya ceased publication in 1921 after six years and a half of uninterrupted appearance.

Sri Aurobindo lived at first in retirement at Pondicherry with four or five disciples. Afterwards more and yet more began to come to him to follow his spiritual path and the number became so large that a community of sadhaks had to be formed for the maintenance and collective guidance of those who had left everything behind for the sake of a higher life. This was the foundation of the Sri Aurobindo Ashram which has less been created than grown around him as its centre.

Sri Aurobindo began his practice of Yoga in 1904. At first gathering into it the essential elements of spiritual experience that are gained by the paths of divine communion and spiritual realisation followed till now in India, he passed on in search of a more complete experience uniting and harmonising the two ends of existence, Spirit and Matter. Most ways of Yoga are paths to the Beyond leading to the Spirit and, in the end, away from life; Sri Aurobindo's rises to the Spirit to redescend with its gains bringing the light and power and bliss of the Spirit into life to transform it. Man's present existence in the material world is in this view or vision of things a life in the Ignorance with the In- conscient at its base, but even in its darkness and nescience there are involved the presence and possibilities of the Divine. The created world is not a mistake or a vanity and illusion to be cast aside by the soul returning to heaven or Nirvana, but the scene of a spiritual evolution by which out of this material inconscience is to be manifested progressively the Divine Consciousness in things. Mind is the highest term yet reached in the evolution, but it is not the highest of which it is capable. There is above it a Supermind or eternal Truth-Consciousness which is in its nature the self-aware and self-determining light and power of a Divine Knowledge. Mind is an ignorance seeking after Truth, but this is a self-existent Knowledge harmoniously manifesting the play of its forms and forces. It is only by the descent of this Supermind that the perfection dreamed of by all that is highest in humanity can come. It is possible by opening to a greater divine consciousness to rise to this power of light and bliss, discover one's true self, remain in constant union with the Divine and bring down the supramental Force for the transformation of mind and life and body. To realise this possibility has been the dynamic aim of Sri Aurobindo's Yoga.

Sri Aurobindo left his body on December 5, 1950. The Mother carried on his work until November 17, 1973. Their work continues.

References

Census Returns of England and Wales, Kew, England: The National Archives of the UK: Public Record Office, 1881, Class: RG11; Piece: 3918; Folio: 15; Page: 23; GSU roll: 1341936

Anon, *Aurobindo, Sri (1872–1950)*, English Heritage, retrieved 18 August 2012

Aurobindo, Sri (2005), *The Life Divine*, Pondicherry: Lotus press, ISBN 0-941524-61-2, retrieved 2014

"Ghose, Aravinda Acroyd (GHS890AA)". *A Cambridge Alumni Database*. University of Cambridge. Retrieved 16 April 2014.

Aurobindo, Sri (2006), *Autobiographical Notes and Other Writings of Historical Interest*, Sri Aurobindo Ashram Publication Department

Lorenzo, David J. (1999), *Tradition and the Rhetoric of Right: Popular Political Argument in the Aurobindo Movement*, London: Associated University Presses, ISBN 0-8386-3815-5

McDermott, Robert A. (1994), *Essential Aurobindo*, SteinerBooks, ISBN 0-940262-22-3

Nirodbaran (1973), *Twelve years with Sri Aurobindo*, Pondicherry: Sri Aurobindo Ashram

O'Mahony, John (29 September 2001), *The Sound of Discord*, *The Guardian* (London)

Satprem (1982), *The Mind of the Cells*, New York, NY: Institute for Evolutionary Research, ISBN 0-938710-06-0

Thakur, Bimal Narayan (2004), *Poetic Plays of Sri Aurobindo*, Northern Book Centre, ISBN 978-8-17211-181-6.

Sexual and Sex Educational Attitude of Urban Students in Relation to their Modernization

Ramnarayan Pandey

Research Scholar, Department of Psychology, J.P. University, Chapra

Sex education ('sex ed'), which is sometimes called sexuality education or sex and relationships education, is the process of acquiring information and forming attitudes and beliefs about sex, sexual identity, relationships and intimacy. Sex education is also about developing young people's skills so that they make informed choices about their behaviour, and feel confident and competent about acting on these choices.

It is widely accepted that young people have a right to sex education. This is because it is a means by which they are helped to protect themselves against abuse, exploitation, unintended pregnancies, sexually transmitted diseases and HIV and AIDS. It is also argued that providing sex education helps to meet young people's rights to information about matters that affect them, their right to have their needs met and to help them enjoy their sexuality and the relationships that they form.

If sex education is going to be effective it needs to include opportunities for young people to develop skills, as it can be hard for them to act on the basis of only having information. The skills young people develop as part of sex education are linked to more general life-skills. Being able to communicate, listen, negotiate with others, ask for and identify sources of help and advice, are useful life-skills which can be applied to sexual relationships. Effective sex education develops young people's skills in negotiation, decision-making, assertion and listening. Other important skills include being able to recognise pressures from other people and to resist them, dealing with and challenging prejudice and being able to seek help from adults - including parents, carers and professionals - through the family, community and health and welfare services.

Sex education that works also helps equip young people with the skills to be able to differentiate between accurate and inaccurate information, and to discuss a range of moral and social issues and perspectives on sex and sexuality, including different cultural attitudes and sensitive issues like sexuality, abortion and contraception.

Young people can be exposed to a wide range of attitudes and beliefs in relation to sex and sexuality. For example, some health messages emphasise

the risks and dangers associated with sexual activity and some media coverage promotes the idea that being sexually active makes a person more attractive and mature. Because sex and sexuality are sensitive subjects, young people and sex educators can have strong views on what attitudes people should hold, and what moral framework should govern people's behaviour.

Young people can be very interested in the moral and cultural frameworks that bind sex and sexuality. They often welcome opportunities to talk about issues where people have strong views, like abortion, sex before marriage, lesbian, gay and contraception and birth control. It is important to remember that talking in a balanced way about differences in opinion does not promote one set of views over another, or mean that one agrees with a particular view. Part of exploring and understanding cultural, religious and moral views is finding out that you can agree to disagree.

People providing sex education have attitudes and beliefs of their own about sex and sexuality and it is important not to let these influence negatively the sex education that they provide. For example, even if a person believes that young people should not have sex until they are married, this does not imply withholding important information about safer sex and contraception. Attempts to impose narrow moralistic views about sex and sexuality on young people through sex education have failed. Rather than trying to deter or frighten young people away from having sex, effective sex education includes work on attitudes and beliefs that enable young people to choose whether or not to have a sexual relationship, taking into account the potential risks of any sexual activity.

Effective sex education also provides young people with an opportunity to explore the reasons why people have sex, and to think about how it involves emotions, respect for one self and other people and their feelings, decisions and bodies. Young people should have the chance to explore gender differences and how ethnicity and sexuality can influence people's feelings and options. They should be able to decide for themselves what the positive qualities of relationships are. It is important that they understand how bullying, stereotyping, abuse and exploitation can negatively influence relationships.

Young people get information about sex and sexuality from a wide range of sources including each other, through the media including advertising, television and magazines, as well as leaflets, books and websites. Some of this will be accurate and some inaccurate. Providing information through sex education is therefore about finding out what young people already know and adding to their existing knowledge and correcting any misinformation they may have. For example, young people may have heard that condoms are not effective against HIV or that there is a cure for AIDS. It is important to provide information which corrects mistaken beliefs. Without correct information young people can put themselves at greater risk.

The precise age at which information should be provided depends on the physical, emotional and intellectual development of the young people as well

as their level of understanding. What is covered and also how, depends on who is providing the sex education, when they are providing it, and in what context, as well as what the individual young person wants to know about. 23

It is important for sex education to begin at a young age and also that it is sustained. Giving young people basic information from an early age provides the foundation on which more complex knowledge is built up over time. For example, when they are very young, children can be informed about how people grow and change over time, and this provides the basis on which they understand more detailed information about puberty provided in the pre-teenage years. They can also be provided with information about viruses and germs that attack the body. This provides the basis for talking to them later about infections that can be caught through sexual contact.

Some people are concerned that providing information about sex and sexuality arouses curiosity and can lead to sexual experimentation. However, in a review of 48 studies of comprehensive sex and STD/HIV education programmes in US schools, there was found to be strong evidence that such programmes did not increase sexual activity. Some of them reduced sexual activity, or increased rates of condom use or other contraceptives, or both. It is important to remember that young people can store up information provided at any time, for a time when they need it later on.

Sometimes it can be difficult for adults to know when to raise issues, but the important thing is to maintain an open relationship with children which provides them with opportunities to ask questions when they have them. Parents and carers can also be proactive and engage young people in discussions about sex, sexuality and relationships. Naturally, many parents and their children feel embarrassed about talking about some aspects of sex and sexuality. The best basis to proceed on is a sound relationship in which a young person feels able to ask a question or raise an issue if they feel they need to. It has been shown that in countries like The Netherlands, where many families regard it as an important responsibility to talk openly with children about sex and sexuality, this contributes to greater cultural openness about sex and sexuality and improved sexual health among young people.

The role of many parents and carers as sex educators changes as young people get older and are provided with more opportunities to receive formal sex education through schools and community-settings. However, it doesn't get any less important. Because sex education in school tends to take place in blocks of time, it can't always address issues relevant to young people at a particular time, and parents can fulfill a particularly important role in providing information and opportunities to discuss things as they arise.

Sex education can take place in a variety of settings, both in and out of school. In these different contexts, different people have the opportunity and responsibility to provide sex education for young people.

Sexual health education should involve discussion of gay and straight issues. Often, when schools offer practical advice in avoiding HIV infection and STDs, it is aimed at straight pupils, with no mention of prevention methods for gay pupils. This may be because STD and HIV prevention for gay men and lesbians involves discussion of ' gay sex'.

Often, teachers are too embarrassed to discuss same-sex relations. However, no sexual health education class can be even remotely adequate without including this type of information. If regular teachers are too uncomfortable dealing with sexual issues, then an external specialist teacher should take some sessions.

Some schools have no sex education on their curriculum. This can be a result of the wider political climate and legislation in a country, or the stance of the school itself. Some academic planners fear that pupils who are taught about gay sexuality will want to rush out and try it. This is an argument that is often used by those who oppose comprehensive sex education in schools. On the contrary, an abundance of studies have shown that sex education reduces teenage pregnancies and STD infection rates.

References

"Namibia National Policy on HIV/AIDS for the Education Sector". USAID Health Policy Initiative. 2003. Archived from the original on 8 November 2013. Retrieved 8 November 2013.

Piya Sorcar (1 December 2010). "A New Approach to Global HIV/AIDS Education". *The Huffington Post*. Retrieved 16 December 2010.

SIECUS Report of Public Support of Sexuality Education (2009)SIECUS Report Online at the Wayback Machine

Sex Education in America. (Washington, DC: National Public Radio, Henry J. Kaiser Family Foundation, and Kennedy School of Government, 2004), p. 5.

Sari Locker, (2001) Sari Says: The real dirt on everything from sex to school. HarperCollins: New York.

"Sexuality Education for Children and Adolescents - Committee on Psychosocial Aspects of Child and Family Health and Committee on Adolescence 108 (2): 498 - Pediatrics". Pediatrics.aappublications.org. 2001-08-01. Retrieved 2014-08-05.

Some Familial Components and Behaviour Problem in Primary School Children

Dr. Pradeep Kumar Sinha

Kohra, Saran

It is widely recognised that if pupils are to maximise their potential from schooling they will need the full support of their parents. Attempts to enhance parental involvement in education occupy governments, administrators, educators and parents' organisations across North America, Australasia, continental Europe, Scandinavia and the UK.

Parental involvement takes many forms including good parenting in the home, including the provision of a secure and stable environment, intellectual stimulation, parent-child discussion, good models of constructive social and educational values and high aspirations relating to personal fulfilment and good citizenship; contact with schools to share information; participation in school events; participation in the work of the school; and participation in school governance.

The extent and form of parental involvement is strongly influenced by family social class, maternal level of education, material deprivation, maternal psycho-social health and single parent status and, to a lesser degree, by family ethnicity.

The extent of parental involvement diminishes as the child gets older and is strongly influenced at all ages by the child characteristically taking a very active mediating role.

Parental involvement is strongly positively influenced by the child's level of attainment: the higher the level of attainment, the more parents get involved.

Along with the wonderful milestones you can expect to see among school-age children such as increased independence and ability to handle more responsibilities, there is also the less-pleasant emergence of common behaviour problems for this age group.

While child-discipline issues such as defiance and back talk may have cropped up at earlier ages in a child, such behaviours can take on a entirely-more challenging aspect as children become older, more verbal, and more independent.

If you are hearing a whole lotta "no's" from your child or are increasingly seeing defiant behaviour such as refusing to do something you asked your child to do, you are not alone. Defiant behaviour is a very common problem among school-age children. But with the right strategies, you can get to the root of your child's behaviour and get your child back on your team.

Tattling is an annoying but very common problem among grade-school age kids. Children this age are figuring out right from wrong, learning about rules and consequences, and putting a high value on being fair. All that is a recipe for tattling, but parents can help guide kids toward more positive behaviour and teach children how to tell the difference between tattling and telling to help someone.

As much as your children may love one another, sibling rivalry and fighting is a very common part of many sibling relationships. Here are some excellent ideas for building sibling love and reducing the friction that can lead to sibling conflict among brothers and sisters.

Does your child take 10 minutes to put on one sock in the morning? Is she a slow eater who takes a half-hour to eat a few bites of her dinner? This frustrating behaviour can be managed with some fun and creative solutions.

Whining can be one of the most unpleasant sounds known to Man. And as almost every parent can attest, children are born with the ability to produce this sound, almost as if it's something encoded into their DNA. The good news is that with a few simple strategies, parents can get their kids to stop whining— and save their sanity in the process.

Talking back may be a normal part of child development, but it's certainly one of the most maddening. Here are some tried-and-true techniques for nipping this behaviour problem in the bud and helping your child express herself in a more appropriate and respectful manner.

Is bedtime all too often a battle of wills in your house? If your child regularly won't go to bed or has trouble falling asleep or staying asleep, try these tips to find out what may be causing her sleep problems and learn how to help her get a good night's rest — something that's especially important for school-age children.

While some parents may worry that shyness in their child may be something that could be a drawback, research shows that there are many positive aspects and benefits to being an introvert.

Having your child lie to you can be upsetting. But the truth is that lying is a common behaviour among children that can be addressed with love and reassurance balanced out with consequences.

Most kids will display behaviour that will either edify or embarrass parents at some stage of their school lives. Primary school isn't always easy for kids — and can be a challenge for parents!

The child's problems are often multi-factorial and the way in which they are expressed may be influenced by a range of factors including developmental stage, temperament, coping and adaptive abilities of family, and the nature and the duration of stress. In general, chronic stressors are more difficult to deal with than isolated stressful events.

Children do not always display their reactions to events immediately, although they may emerge later. Anticipatory guidance can be helpful to parents and children in that parent can attempt to prepare children in advance of any potentially traumatic events - eg, elective surgery or separation. Children should be allowed to express their true fears and anxieties about impending events.

In stressful situations, young children will tend to react with impaired physiological functions such as feeding and sleeping disturbances. Older children may exhibit relationship disturbances with friends and family, poor school performance, behavioural regression to an earlier developmental stage, and development of specific psychological disorders such as phobia or psychosomatic illness.

It can be difficult to assess whether the behaviour of such children is normal or sufficiently problematical to require intervention. Judgement will need to take into account the frequency, range and intensity of symptoms and the extent to which they cause impairment.

All children will at some developmental stage display repetitive behaviours but whether they may be considered as disorders depends on their frequency and persistence and the effect they have on physical, emotional and social functioning. These habit behaviours may arise originally from intentional movements which become repeated and then become incorporated into the child's customary behaviour. Some habits arise in imitation of adult behaviour. Other habits such as hair pulling or head banging develop as a means of providing a form of sensory input and comfort when the child is alone.

References

1. Watson, J.B. (1926). What the nursery put in jimmy's rectum, hmmmm wonder what his mum has to say about instincts. In C. Murchison (Eds.) *Psychologies of 1925*. Worchester, MA: Clark University Press.
2. Skinner, B.F. (1974). *About Behaviourism*. Knopf
3. Skinner, B.F. (1953) *Science and Human Behaviour*. New York: The Free Press
4. Bijou, S.W. (1955). "A systematic approach to an experimental analysis of young children". *Child Development* (3): 161–168. doi:10.2307/1126106. PMID 13261293.
5. Bijou, S.W. (1957). "Patterns of reinforcement and resistance to extinction in young children". *Child Development* (1): 47–54. doi:10.2307/1125999. PMID 13404656.
6. Bijou, S.W. (1958). "Operant extinction after fixed-interval schedules with young children". *Journal of the Experimental Analysis of Behaviour* (1): 25–29. doi:10.1901/jeab.1958.1-25. PMC 1403884. PMID 16811199.
7. Morris, Edward K. (Fall 2008). "Sidney W. Bijou: The Illinois Years, 1965-1975". *Behaviour Anal.* (2): 179–203. PMC 2591757. PMID 22478510.

8. Baer, D.M. (1993). "A brief, selective history of the Department of Human Development and Family Life at the University of Kansas: The early years". *Journal of Applied Behaviour Analysis* (4): 569–572. doi:10.1901/jaba.1993.26-569. PMC 1297894. PMID 16795815.
9. Bijou, S.W.; Baer, D.M. (1961). *Child Development: Vol. 1: a Systematic and Empirical Theory*. Prentice-Hall. ISBN 0-13-130377-5.
10. Bosch, S.; Hixson, M.D. (2004). "The Final Piece to a Complete Science of Behaviour: Behaviour Development and Behavioural Cusps". *The Behaviour Analyst Today* 5 (3): 244–253.
11. Baer, D.M. (1982). "Behaviour analysis and developmental psychology: Discussant comments". *Human Development* : 357–361.
12. Morris, E.K. (1988). "Contextualism: The worldview of behaviour analysis". *Journal of Experimental Child Psychology* (3): 289–323. doi:10.1016/0022-0965(88)90063-X.
13. Schlinger, H.D. (2004). "The almost blank slate: Making a case for human nurture". *Skeptic* : 34–43.
14. Baer, D.M. (1973). The control of developmental process: Why wait? In J.R. Nesselrode & H.W. Reese (Eds.) *Life Span Developmental Psychology: Methodological Issues*. Oxford, England: Academic Press.

Ethics in Psychological Research

Dr. Kamta Prasad Yadav

Reader in Psychology, R.L.S.Y.College, Bettiah,
B.R.A.Bihar University, Muzaffarpur

The concern for ethics in psychological research may be seen as part of the historical trend in civil and human rights. Before World War II, research ethics were considered a matter for the individual researcher to worry about. However, the Nuremberg trials of Nazi war criminals led to a consciousness of the need for ethical controls in scientific research.

In addition, the growth of all types of research, fuelled by increasing government funding, prompted concern with research ethics. As a result, research ethics are in a state of rapid evolution. Some practices that were considered acceptable and routine a few years ago are considered unethical today. For this reason, we must present out discussion of research ethics as tentative, rather than chiselled in stone. What will be acceptable practice 10 or 20 years from now cannot be predicted.

The APA Ethics Code

The American Psychological Association (APA) has developed an extensive document known as the "Ethical principles of Psychologists and Code of Conduct" (2002). This is a substantial revision of an earlier document in the effort to keep pace with the changing challenges of scientific ethics. The ethical principles addressed by the APA cover all the professional activities that psychologists engage in. A number of them, such as those on sexual harassment, nondiscrimination, and the like, concern all professional activities, not just research. Discussion of all the statements that could bear on research would take us too far afield. Instead, we quote those sections that are most directly relevant to ethical concerns in the conduct of research, and then follow the quotes with commentary on each ethical concern.

The APA ethics code represents the consensus of the psychology profession about what is considered acceptable practice. The federal government and certain other jurisdictions, however, have passed laws governing the conduct of research. In addition, the federal government requires institutions that receive federal funds to establish an institutional review board (IRB) to approve virtually all research on human participants. IRB committees must have a minimum of five members, at least one of whom is not a scientist, and one member must be unaffiliated with the institution (Swerdlow, 2000). The IRB committee is charged with ensuring that the studies present as little risk to subjects as possible and have scientific merit (Puglisi, 2001). It is also possible to seek an expedited review from the IRB. The expected review does not require approval from the full IRB committee and is thus completed more quickly than a full review. Research that represents minimal risk to the participants and falls into one of nine specified categories is eligible for expedited review. At least three of the categories are of

interest to psychologists. Expedited category 5 involves data collected for solely non-research purposes (e.g. demographic data that was collected as part of an incarceration procedure), whereas category 6 concerns the collection of data from recordings made for research purposes. Category 7 entitles research employing surveys and a wide range of other low-risk research activities to an expedited review (Puglisi, 2001).

It is possible to create a research project that is exempt from the regulations governing research, and thus does not require IRB approval. As a student, you should consult your instructor, department chairperson, or school's IRB before you initiate any research to familiarize yourself with the applicable regulations on research. William Langston (2002) discusses the IRB in his lab manual, Appendix A : Getting Approval From Institutional Review Boards.

APA Code Section 2.01 : Boundaries of Competence;

(a) Psychologists provide services, teach, and conduct research only within the boundaries of their competence, based on their education, training, supervised experience, or appropriate professional experience.

(b) Psychologists planning to provide services, teach, or conduct research involving populations, areas, techniques or technologies new to them undertake relevant education, training, supervised experience, consultation, or study.

(c) In those emerging areas in which generally recognized standards for preparatory training do not yet exist, psychologists nevertheless take reasonable steps to ensure the competence of their work and to protect clients/patients, students, supervisees, research participants, organizational clients and other from harm.

APA Code Section 2.03 : Maintaining Competence

Psychologists undertake ongoing efforts to develop and maintain their competence.

Commentary on Responsibility

The decision to conduct research often presents a conflict between two sets of values. In general, the conflict is between (1) the commitment of the psychologist to expanding our knowledge of behaviour and the potential benefit the research may have for society and (2) the cost of the research to the participants. It is not possible to resolve this conflict in terms of moral absolutes or by a set of prescriptions that will cover all cases.

The conflict is faced continually by researchers, who must consider themselves responsible for deciding to conduct their research. Researchers who do not review ethical problems carefully are negligent toward society. From another viewpoint, a researcher who refrains from doing an important study because of an excessively tender conscience is also failing to keep a commitment to the same society that supports behavioural research with the hope that it will provide important social benefits.

The investigator-the person who is in overall charge of the research-has the greatest responsibility to see that ethical principles are followed. In most cases,

students work in the capacity of experimenters or assistants under the supervision of the investigator. All people working on a research project, however, should consider themselves bound by the APA ethics code, even if they are not professional psychologists or members of the APA.

Investigators should discuss their research with colleagues and seek advice about the ethics of the research procedures. This helps to curb the bias we all have of thinking that our research is more important than it really is and that we are morally superior and therefore will act ethically. Most institutions have committees that review all research on human participants. Before investigators being any research, they should be certain that they are complying with institutional procedures. Students should initiate research only under the sponsorship of a faculty member, who is, in turn, subject to professional sanctions.

Commentary on Protection from Harm

It is impossible to avoid risk of harm entirely in behavioural research because any new situation by definition is stressful and conceivably could be harmful. Some experiments, though, have subjected people to the threat of shock, to being told that they have latent homosexual tendencies, or to being locked in a room that appears to be on fire. Today, these situations are considered unduly stressful. Stress in an experiment may be either physical or psychological. In judging the acceptability of stress, the researcher must assess how stressful the situation is likely to be compared with activities of everyday life.

Would people willingly put themselves into this situation ? What special groups must be considered, such as heart patients, epileptics, or borderline schizophrenics ? Researchers must also consider the idea that participants may resent being treated merely as objects, even if there is not other direct harm to the person. Informed consent the thorough debriefing can help with this concern.

APA Code Section 3.10 : Informed Consent

(a) When psychologists conduct research of provide assessment, therapy, counselling, or consulting services in person or via electronic transmission or other forms of communication, they obtain the informed consent of the individual or individuals using language that is reasonably understandable to that person or persons except when conducting such activities without consent is mandated or prescribed by law or governmental regulation or as otherwise provided in this Ethics Code.

(b) For persons who are legally incapable of giving informed consent, psychologists nevertheless (1) provide an appropriate explanation, (2) seek the individual's assent, (3) consider such persons' preferences and best interests, and (4) obtain appropriate permission from a legally authorized person, if such substitute consent is permitted or required by law. When consent by a legally authorized person is not permitted or required by law, psychologists take reasonable steps to protect the individual's rights and welfare.

(c) Psychologists appropriately document written or oral consent, permission, and assent.

APA Code Section 8.01 : Institutional Approval

When institutional approval is required psychologists provide accurate information about their research proposals and obtain approval from host institutions or organizations appropriate approved prior to conducting research. They conduct the research in accordance with the approved research protocol.

APA Code Section 8.02 : Informed Consent to Research

(a) When obtaining informed consent as required in Standard 3.10, Informed Consent, psychologists inform participants about (1) the purpose of the research, expected duration, and procedures ; (2)their right to decline to participate and to withdraw from the research once participation has begun ; (3) the foreseable consequences of declining or withdrawing; (4) reasonably foreseeable factors that may be expected to influence their willingness to participate such as potential risks, discomfort, or adverse effects; (5) any prospective research benefits ; (6) limits of confidentiality; (7) incentives for participation; and (8) whom to contact for questions about the research and research participant's rights. They provide opportunity for the prospective participants to ask questions and receive answers.

APA Code Section 8.03 : Informed Consent for Recording Voices and Images in Research

Psychologists obtain informed consent from research participants prior to recording their voices or images for data collection unless (1) the research consists solely of naturalistic observations in public places, and it is not anticipated that the recording will be used in a manner that could cause personal identification or harm or (2) the research design includes deception and consent for the use of the recording is obtained during debriefing.

APA Code Section 8.04 : Client/Patient, Student, and Subordinate Research Participants

(a) When psychologists conduct research with client/patients, students, or subordinates as participants, psychologists take steps to protect the prospective participants from adverse consequences of declining or withdrawing from participation.

(b) When research participation is a course requirement or opportunity for extra credit, the prospective participant is given the choice of equitable alternative activities.

(c) Psychologists ensure that all individuals under their supervision who are using animals have received instruction in research methods and in the care, maintenance, and handling of the species being used, to the extent appropriate to their role.

(d) psychologists make reasonable efforts to minimize the discomfort, infection, illness, and pain of animal subjects.

(e) Psychologists use a procedure subjecting animals to pain, stress, or privation only when an alternative procedure is unavailable and the goal

is justified by its prospective scientific, educational, or applied value.

(f) Psychologists perform surgical procedures under appropriate anesthesia and follow techniques to avoid infection and minimize pain during and after surgery.

(g) When it is appropriate that the animal's life be terminated, psychologists proceed rapidly, with an effort to minimize pain, and in accordance with accepted procedures.

Research involving animal participation should not be taken lightly. As with experiments involving human subjects, psychologists should have a reasonable expectation that the results of an experiment involving animals will yield results that increase scientific knowledge of people or the species involved in the research. Psychologists should assume that stimuli that are painful to people are also painful to animals, so care should be taken to minimize the number of animals involved in the research or to consider non-animal research alternatives. Psychological research on animals should be carried out by trained personnel under the supervision of an institutional animal care and use committee. Animals involved in experimentation should be treated with humane consideration of their well-being in conjunction with research goals.

Despite the considerations given to the care of animals in research, there is a vigorous animal rights movement that would ban or severely restrict the use of animals in research. Although many people find the message of the animal rights movement appealing, it actually has serious implications for human welfare, as well as for the conduct of psychological research.

Animal Rights and Animal Welfare

Because the term animal rights has become so widely used in connection with the use of animals in research, it is necessary at this point to make a distinction between "animal rights" and "animal welfare". Some authors have claimed that animals should have the same sort of rights as people, including legal rights. According to this view, it is unethical to use animals for research, food, pets, recreation, work, or any other human-serving purpose. Ethicists, however, generally ascribe rights to members of a community that share moral standards and can be held to moral responsibilities. An individual who has right has a moral claim on other members of the community to accept certain responsibilities with respect to that individual, who, in turn, takes on responsibilities. If an individual has the right of free speech, both the individual and other members of the community have the responsibility not to endanger (as by shouting 'Fire!' in a crowded theatre), defame, or unduly annoy one another (disturbing the peace). Animals do not belong to a moral community. You cannot take a dog to court for barking at night ; a cat is not guilty of murder when it kills a bird.

If animals had the same sort of rights as people, we would be involved in murder by eating a hamburger, we would be guilty of slavery by keeping a dog as a pet, and we would be stealing when we collect eggs from a chicken. Although it is not impossible that some society might decide to give animals legal rights, ours does not.

The generally accepted term to use in discussing the appropriate use of animals in research in animal welfare, or humane treatment of animals. As members of a moral community, humans are responsible for the welfare of animals that are under their care. Because mistreatment of animals reflects on the person who does the mistreating, it is called inhumane treatment. Although only a minority of those who would limit research on animals hold to the position that animals have the same legal rights as people, the term animal rights has become so widely used that it is necessary to make this distinction clear. The research community clearly supports humane treatment of animals but rejects the notion of animal rights.

Some people raise an objection to this position on animals rights by pointing out that infants and individuals who are severely retarded, senile, or brain damaged are not capable of being held to the same moral standards as normal adult humans and thus would not have rights according to that argument. First, it should be noted that not all humans have the same rights. Infants may not be elected president of the United States, and prisoners cannot vote. But, more important, we do make ethical distinctions on the basis of a larger class to which an individual belongs. No person under 35 years of age may be elected president, no matter how mature, and no nonhuman animal has legal rights, no matter how intelligent.

References

- Craik, K. H. (1973) Environmental psychology, In P. H. Mussen and M. R. Rosenzweig (Eds.). *Annual review of psychology, 1973.* Palo Alto, Armual Reviews, Inc. Pp. 403-422.
- Haney, C., Banks, C., and Zimbardo, P. G. (1973) Interpersonal dynamics in a simulated prison. *Intern. J. Criminol. Penal.*,1,69-97.
- Helmreich, R., Bakeman, R., and Scherwitz, L.(1974) The study of small groups. In P. H. Mussen and M. R. Rosenzweig (Eds.) *Annual review of psychology, 1974.* Palo Alto, Annual Reviews, Inc. Pp. 337-354.
- Milgram, S. (1974) *Obedience to authority. New* York, Harper & Row.
- Orlando, N. J. (1973) The mock ward: A study in simulation. In 0. Milton and R. G. Wahler (Eds.), *Behavior disorders: Perspectives and trends.* Philadelphia, J. B. Lippincott.
- Savin, H. B. (1973) Professors and psychological researchers: Conflicting values in conflicting roles, Cog. 2 (I), 147-149.
- Seligman, M. E. P. (1973) Fall into Helplessness. *Psychology Today, 7,43-48.*
- Sommer, R. (1969) *Personal space: The behavioural basis of design.* Englewood Cliffs, N.J., Prentice-Hall.
- Toffler, A. (1970) *Future shock. New* York, Random House.
- Zimbardo, P. G., Haney, C., Banks, W. C., and Jatle, D. (1973) The mind is a formidable jailer : A Pirandellian prison. The New *York Times Magazine,* April 8, Section 6, 38-60.
- Hoy, D. (2005), Critical resistance from poststructuralism to postcritique, Massachusetts Institute of Technology, Massachusetts.
- Lyon, D. (1999), Postmodernity, 2nd ed, Open University Press, Buckingham.
- Singer, P. (2000), Writings on an ethical life, Harper Collins Publishers, London.